सर्वोदय ग्रन्थमाला—सख्या १३

# समाज-रचना, सर्वोदय दृष्टि से

लेखक

'सर्वोदय अर्थशास्त्र,' 'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से'
'मानव संस्कृति' आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला

दारागंज, इलाहाबाद

पहला संस्करण ] सन् १९५५ [ मूल्य, डेढ़ रुपया

## निवेदन

आखिर, यह पुस्तक भी हो गयी। पाच वर्ष हुए, मेरा ध्यान सर्वोदय विचारधारा की ओर गया था। अपनी आयु के साठ वर्ष और साहित्यिक जीवन के पैंतीस वर्ष पूरे कर लिये थे। कई वर्ष मे स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। अपनी जीवन-सध्या का विचार कर साहित्य-कार्य मे कुछ नया मोड लेने से मन हिचक रहा था। अन्त मे सोचा कि शायद सूर्य बादलों से ढका हुआ हो, वास्तविक सध्या होने में काफी देर हो। शुभ काम जब भी शुरू हो जाय, अच्छा है। जागो तभी सवेरा। निदान, मै सर्वोदय साहित्य देखने लग गया। खूब मन लगा। पीछे जयपुर मे, प्राकृतिक चिकित्सालय मे रह कर भाई जवाहर लाल जैन से विचार-विनिमय करते हुए 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' लिखा, जो सर्वोदय ग्रन्थमाला की पहली पुस्तक के रूप मे सन् १९५२ मे पाठको के सामने आयी। पीछे काम जारी रहा। श्री जैन की दो पुस्तके मिला कर अब तक कुल बारह पुस्तके प्रकाशित हुई।

मेरी पिछली विशेष रचना 'राज व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' थी। 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और इस पुस्तक के हो जाने पर मन मे कुछ सतोष तो हुआ पर एक बात खटकने लगी। सर्वोदय एक समग्र जीवन-दर्शन है, यदि विवेचन की सुविधा के लिए इसे अलग-अलग भागो मे लेना हो तो खासकर तीन विषयो का विचार होना आवश्यक है—अर्थनीति, राजनीति (या लोकनीति), और समाज-नीति। जबकि इनमे से पहले दो विषयों पर सर्वोदय दृष्टि से—जैसा भी बन आया—विचार कर लिया गया तो समाजनीति पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। उसके बिना वह कडी अधूरी है। इस प्रकार ऐसी पुस्तक का अभाव खटकने लगा। आखिर, अपने स्वास्थ्य के निर्बल होते हुए

तथा विषय ज्ञान की कमी का अनुभव करते हुए भी इस रचना का काम हाथ मे लेने का साहस कर डाला।

समाज रचना का विषय बहुत विस्तृत है। इसका अर्थव्यवस्था और राजव्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए हमे, अपनी इन विषयों सम्बन्धी पृथक् रचनाएँ होते हुए भी इस पुस्तक मे प्रसगवश उन पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसमे रचना सम्बन्धी विषय अनेक हैं। तथापि यदि सर्वोदय दृष्टि क्या है, यह समझ लिया जाय तो अन्य विषयो पर विचार करने मे बहुत सुविधा हो जाती है। इसलिए इस पुस्तक के आरम्भ मे इस विषय पर कुछ खुलासा लिखा गया है। वैसे यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका मात्र समझनी चाहिए। हाँ, पाठको की रुचि, और हमारे स्वास्थ्य तथा साधनो को देखते हुए यह भी गनीमत है। गाधी, बिनोवा, आदि जिन जिन महापुरुषो, विद्वानो और विचारको की रचनाओ से मैने इस विषय को समझने और लिखने मे सहायता ली है, उन सबका मै हृदय से कृतज्ञ हूँ। वास्तव मे, श्री जगदीश सक्सेना के शब्दो मे मेरी यही भावना है—

गीत तुम्हारे, राग तुम्हारा, लिखने का वरदान मुझे है।
पुण्य बनी अनजान साधना
ज्योतिर्मय होगयी कामना
दीप तुम्हारे, स्नेह तुम्हारा, जलने का वरदान मुझे है।
एक-निष्ठ होगयी कल्पना
रग-रग मे रम गयी अर्चना
प्राण तुम्हारे, हृदय तुम्हारा, जीने का वरदान मुझे है॥

भगवानदास केला

# विषय-सूची

## पहला खंड

# सर्वोदय दृष्टि

### १४—खेती और ग्रामोद्योगों की प्रधानता



## तीसरा खंड

## व्यक्ति का विकास

### १५—व्यक्ति और समाज

## १६—आत्मनिर्माण का महत्व



## १७—समाज में बड़ा आदमी : बड़ा सेवक



## १८—हमारे तीर्थ : जीवन-सुधार के केन्द्र



## १९—त्यौहार : आत्म-निरीक्षण का दिन

# चौथा खंड

# परिवार, गांव और संसार

## २०—नारी की प्रतिष्ठा



## २१—बालक, भगवान-रूप



## २२—परिवार-भावना गांव भर में



## २३—प्रत्येक गांव, स्वयं-पूर्ण

## २४—गांव सुखी, संसार सुखी



---

## पहला खंड

# सर्वोदय दृष्टि

इस छोटी सी जिंदगी मे हम कसौटी पर हैं। इस ससार मे जो कुछ थोड़े दिन हमे रहना है, उनमे सब की सेवा तथा सब का प्रेम हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। जिन्होने इस दुनिया मे आकर पैसा कमाया लेकिन प्रेम गवाया, उन्होने कुछ भी नही कमाया। जिन्होने ज्ञान हासिल किया मगर सब का प्रेम हासिल नही किया, उन्होने कुछ भी हासिल नही किया। जिन्होने शक्ति सम्पादन की, पर सबका प्रेम सम्पादन नही किया, उन्होंने कुछ भी सम्पादन नही किया। इसलिए भाइयो सब से प्रम करो और सब का प्रेम हासिल करो, यही सर्वोदय समाज का सदेश है।

—विनोबा

व्यापार का मकसद यह है कि धरती की सब पैदावार को इस तरह से सगठित किया जाय कि सारे मानव समाज की सब जरूरते पूरी हो सके। विज्ञान का उद्देश्य यह है कि सब चीजो की सच्ची-सच्ची जानकारी सब मे फैल जाय। राज-नीति का उद्देश्य यह है कि सब देश न्याय और शान्तिपूर्वक मिलकर प्रेम से रह सके और सब की बराबर उन्नति हो। इसी तरह धर्म का उद्देश्य यह है कि सब के अन्दर एक सच्चा विश्वास हो।

—जे. इ. कारपेन्टर

## पहला अध्याय

# विषय-प्रवेश

सर्वोदय व्यक्ति और समाज के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और धार्मिक सब प्रकार के पहलुओ मे सर्वांगीण विकास का नाम है।

—डा० राधाकृष्णन

**भविष्य की ओर दृष्टि** - हम वर्तमान काल मे रह रहे हैं, आज की स्थिति, सुख दुख, हर्ष और शोक हमारे सामने हैं, फिर भी कभी-कभी हम पीछे की बात याद कर लिया करते हैं। कल हम कैसे थे, गत मास मे हमे जीवन के क्या-क्या अनुभव हुए, अथवा इससे पहले गत वर्ष या कई वर्ष पहले हम कैसी हालत मे थे, उस समय हमे कैसे-कैसे कष्ट भोगने पडे थे, या हमे कौनसी विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। भूत-काल के अतिरिक्त भविष्य की ओर भी हमारी निगाह लगी रहती है। अनेक दशाओ मे तो भविष्य हमारा ध्यान भूत और वर्तमान से भी अधिक आकर्षित कर लेता है। प्राय आदमी आज के दिन कई प्रकार के त्याग करने और कष्ट सहने के लिए इस वास्ते तैयार हो जाते ह कि उनका आगामी कल अच्छा हो। यही नही, बहुत से आदमी तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, व्रत उपवास आदि का कष्ट इस विचार से सहा करते हैं कि उनका अगला जन्म सुखमय हो, उन्हे स्वर्ग-प्राप्ति हो, उनका परलोक सुधर जाय। जो आदमी पुनर्जन्म या परलोक आदि मे विश्वास नहीं करते, वे इसी जन्म के आने वाले समय का विचार किया करते हैं।

**मनुष्य की आशावादिता**—यद्यपि कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं। जिनके मन पर वर्तमान कठिनाइयो और कष्टो का बहुत अधिक प्रभाव

पड जाता है और जो अपने भावी जीवन के प्रति बहुत ही निराशावादी हो जाते हैं, अधिकतर आदमी भविष्य के सम्बन्ध मे आशावादी ही रहते हैं। उन्हे भरोसा रहता है कि हमारे इस समय जो भी अभाव या कष्ट हों, ये दिन बीत जायँगे, फिर अच्छे दिन आयेगे और हम सुख-मय जीवन बितायेगे। रोगी आदमी को रोग-मुक्त होने का, और अभाव-ग्रस्त को खुशहाल होने का विश्वास रहता है। ऐसा न हो तो लोगो को यह ससार-यात्रा दूभर हो जाय। अस्तु, ससार आशा के सहारे ही टिका है।

**सामूहिक विषयों का काल्पनिक चित्र**—आदमी व्यक्तिगत विषयो मे ही नही, सामूहिक विषयो मे भी प्रायः आशावादी रहता है। हम भावी समाज के विषय मे बहुधा अपने मन मे सुन्दर चित्र बनाया करते हैं। अकसर आदमी यह अनुमान लगाया करते है कि पचास वर्ष बाद जीवन के विविध क्षेत्रो मे इतनी इतनी प्रगति हो जायगी, और सौ वर्ष के बाद ससार का ऐसा कायाकल्प हो जायगा। कुछ आद-मियों के सामने समाज का आर्थिक पहलू मुख्य होता है, और कुछ के सामने राजनैतिक, धार्मिक या सास्कृतिक आदि। कुछ लेखको या कवियों आदि ने समाज के सभी अगो के नये रूप की कल्पना की है। और यथा-सभव उसका पूरा चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है।

ऐसी रचनाओं का कभी-कभी बडा मजाक भी उडाया गया है। जो लोग इन्हे बुद्धि-ग्राह्य नही मानते, उन्होने इनको काल्पनिक सुखवाद कोरी कल्पना, शेखचिल्ली का स्वप्न, या हवाई महल आदि कहा है। उनका आशय यह होता है कि ये कभी मूर्त-रूप धारण न करेगी। बात यह है कि कुछ कल्पनाओ के अमल मे आने मे सैकड़ो वर्ष भी लग सकते हैं, और साधारण आदमी आमूल परिवर्तनो की कल्पना नही करते या नही कर सकते। हमारे सामने किसी चीज का जो रूप मौजूद होता है, उससे थोडे से बदले हुए रूप का विचार हम आसानी से कर सकते हैं। एकदम उसके बहुत ही विशाल

या बिलकुल बदले हुए रूप की बात समझ से बाहर की होती है। तथापि कल्पनाएँ करने वाले अपनी-अपनी कल्पना संसार के सामने समय-समय पर रखते रहे हैं और बहुत से काल्पनिक चित्रों में पीछे यथेष्ट तत्व मालूम हुआ है, उन्होंने आगे-पीछे, देर-सवेर मूर्त-रूप धारण किया है।

हमारी अपनी बात, भावी संसार का चित्र—इन पंक्तियों का लेखक भी कुछ न कुछ स्वप्नदर्शी रहा है। हमने समय-समय पर समाज की विविध बातों के भावी रूप पर कुछ फुटकर विचार प्रकट किया है। अब से ग्यारह वर्ष पूर्व हमने भावी संसार के सम्बन्ध में कुछ इकट्ठा प्रकाश डाला था। ( यह 'भावी नागरिकों से' पुस्तक के अंतिम अध्याय के रूप में प्रकाशित हुआ था ), इसका मुख्य भाग यह है—

'भावी संसार में हरेक आदमी तन्दुरुस्त, हृष्ट-पुष्ट, स्वतंत्र रूप से विचार करने वाला, स्वाधीन जीवन बिताने वाला, अन्ध-विश्वासों से दूर, श्रम या मेहनत का आदर-मान करने वाला, स्वावलम्बी, निडर और दूसरों की सेवा और सहायता में आनन्द लेने वाला होगा।

'भावी समाज किसी भी धर्म-पुस्तक के सब वाक्यों को आँख मींच कर मानने के लिए मजबूर न होगा। भावी संसार में ईश्वर या परमात्मा कुछ खास-खास इमारतों—मंदिर, मसजिद या गिरजा आदि—में न माना जायगा। उसके दर्शन हर जगह, हरेक आदमी में होंगे। प्रत्येक नागरिक का आदर्श-वाक्य यह होगा—'यह दुनिया मेरा देश है और नेकी करना मेरा धर्म है।'

'भावी संसार में अमीरी और गरीबी का, पूँजीपति और मजदूर का, जमींदार और किसान का भेदभाव सहन न होगा। सब आदमियों में समानता और भाईचारा होगा। न तो किसी आदमी को अपने भोजन-वस्त्र, रहने की जगह, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि साधनों की

कमी रहेगी और न कोई इनका दुरुपयोग या फजूलखर्च ही करेगा। पैदावार का उद्देश्य जनता की जरूरते पूरी करना होगा, न कि मुनाफा कमाना। इसलिए नशे, विलासिता और ऐयाशी की चीजे नही बनायी जायँगी। हिंसक युद्ध-सामग्री की भी जरूरत न रहेगी। वितरण की विषमता दूर हो जायगी। सर्वसाधारण को उपयोगी चीजे देना, उनकी सेवा और सहायता करना, अर्थनीति का ध्येय होगा।

'भावी ससार मे विज्ञान के आविष्कारो और यन्त्रो पर मुट्ठी भर धनवानो या सत्ताधारियो का अधिकार न होगा। विज्ञान का प्रकाश हर एक देश के जनसाधारण तक पहुँचेगा। वह लोगों के जीवन-निर्वाह, स्वास्थ्य और चिकित्सा का साधन होगा, उससे सर्वसाधारण के अभाव दूर होगे। इसके अलावा आदमी केवल भौतिक विज्ञान मे न लगा रहेगा, वह मानसिक और आध्यात्मिक विज्ञान की ओर भी काफी ध्यान देगा। और, इस प्रकार अपनी इन्द्रियो को वश मे रखते हुए, आवश्यकताओ को जहाँ तक बने कम रखेगा। उसका आदर्श 'सादा जीवन और उच्च विचार' होगा।'

**समाज की कसौटी, सर्वोदय**—इस तरह की कुछ और भी बाते इस पुस्तक मे बतायी गयी थी। पर मालूम होता है कि ऐसे वक्तव्य का चाहे जितना विस्तार या खुलासा किया जाय, इस विषय का एक अध्याय नही, पूरी पुस्तक ही क्यो न लिखी जाय—बात पूरी नही होती। असल मे समाज मे इतनी बातो का समावेश होता है कि सब के आदर्शरूप का वर्णन नही हो सकता, कुछ-न-कुछ छूट ही जाती हैं। इसलिए कोई मुख्य लक्षण या कसौटी बताना अच्छा है, जिससे यह जाँच हो सके कि समाज की कोई बात ठीक है या नही। सामाजिक विषयो की कसौटी निर्धारित करने के लिए अब हमे एक निश्चित शब्द मिल गया है, वह है 'सर्वोदय', जिसका अर्थ है, सब का भला। अब हम सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं या अगों की इसके आधार पर जाँच कर सकते हैं।

**सर्वोदय की भावना**—सर्वोदय भावना कुछ नयी नहीं है और न यह भारत तक ही परिमित रही है। चिरकाल से विविध देशों में इसके अनुसार विचार और कार्य करने वाले रहे हैं—ब्राह्मण शूद्र का, एशियाई यूरोपियन का, हिन्दू मुसलमान ईसाई का, या अन्य किसी प्रकार का, विषमता या भेदभाव-सूचक विचार न हो। प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य है, इसलिए वह समानता सम्मान और प्रेम का अधिकारी हो। किसी का शोषण न हो। किसी पर हिंसक शासन न हो। मनुष्य मनुष्य में अन्तर न हो। कोई जाति, कोई वर्ण, कोई वर्ग कोई समूह निम्न कोटि का न माना जाय। सारा समाज एकरस या समरस हो, ससार भर में विशाल भाईचारा हो।

**सर्वोदय भावना का प्रचार**—आधुनिक काल में इसे व्यापक रूप देने वाले और इसे सार्वजनिक व्यवहार में लाने का उपाय सुझाने वाले गांधी जी हैं। अब से पहले सर्वसाधारण ने इसे कुछ साधु सतों का ही काम समझा था। सासारिक मनुष्यों के लिए यह एक कल्पित वस्तु या आदर्श मात्र माना जाता था, जो दो घडी दिल बहलाने भर का काम देने के अतिरिक्त और किसी उपयोग का नहीं। पर अब यह इतनी उपेक्षा का विषय नहीं रहा। क्रमशः अधिकाधिक आदमी इसके विषय में चिन्तन और मनन करने लगे हैं। यद्यपि बहुत से इसकी केवल खडनात्मक आलोचना ही करते हैं, धीरे-धीरे ऐसे सज्जनों की सख्या बढती जाती है, जो इसकी ब्योरेवार बातों में जाना और उनपर यथा-सम्भव अमल करना आवश्यक समझते हैं।

**विशेष वक्तव्य**—इसमें सदेह नहीं कि बहुत सी बातें आदर्श-रूप ही होती हैं, उनके पूर्णतया चरितार्थ होने में पीढियों या शायद सदियों का भी समय लग जाता है और यह भी सभावना रहती है कि कुछ बातें कुछ दूसरा ही रूप धारण करलें, तथापि जबकि वे लोकहितकारी हों तो उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करना, उनकी दिशा में बढते रहना

प्रत्येक विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है। सर्वोदय समाज में लोगो की मान्यताए कैसी होंगी, उस समाज की रचना मे किन-किन अथवा किस प्रकार के साधनो का उपयोग होगा—इन बातों का आगे विचार किया जायगा।

———

## दूसरा अध्याय

# सब के भले में हमारा भी भला

एक के भले मे सब का भला ही है। किसी एक के हित के विरुद्ध दूसरे का हित हो नही सकता। किसी एक जमात कौम, वर्ग या देश के हित के विरुद्ध भी दूसरी जमात, कौम वर्ग या देश का हित नहीं हो सकता। मै अगर बुद्धिमान हूँ, मेरी सेहत अगर सुधरती है तो उससे आपका भला ही होने वाला है।
—विनोबा

मेरा भला, मेरी असली भला, मेरा सच्चा भला इसी बात मे है कि मेरा मन सदा ऐसी चाहें चाहा करे और ऐसी राहें गहा करे, जो शुभ हो, पवित्र हो, इसके फलस्वरूप सुख-दायक हो। मेरी यही कामना है, और मेरा ऐसा ही यत्न होगा कि मेरी मन मुझे समाज-हित के कार्यों मे सदा प्रेरित करता रहे।
—विश्वबन्धु

अपना हित और दूसरों का हित—कितने ही आदमी सोचते हैं कि हमारा हित होना चाहिए, अगर उसके कारण दूसरो का अहित होता हो तो हो, उसकी हम क्यो चिन्ता करे। दूसरे प्रकार के आदमियो का मत होता है कि हमारा भला हो यह तो हम चाहते हैं, पर अपना ऐसा भला नही चाहते, जिससे दूसरो का अहित हो। यदि कोई बात ऐसी है जिससे चाहे हमारा भला होता है, पर उससे दूसरो का बुरा होता है तो हम उसे न करेगे, वह हमे स्वीकार न होगी। तीसरे प्रकार के आदमियो का विचार यह रहता है कि हम सबका भला चाहते हैं, पर दूसरो के हित की बात को हम प्रमुख मानते हैं। यहाँ तक कि यदि हमारे करने की किसी बात से दूसरों का हित होना

है तो चाहे उससे हमारा नुकसान ही हो, उसे करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

**हमारा वास्तविक हित सर्वोदय भावना से ही होगा**—ऊपर बताये हुए तीन प्रकार के आदमियो मे तीसरे प्रकार के आदमी प्रायः बहुत कम होते हैं। अन्य लोग उनकी प्रशसा करते हैं पर उनका अनुकरण बहुत नही होता। अस्तु, साधारणतया समाज मे अधिकता पहले और दूसरे प्रकार के आदमियो की रहती है। इनमे से पहले प्रकार के आदमी समाज के लिए बहुत अनिष्टकारी होते हैं। ये स्वार्थी कहलाते हैं। इनके अनीतिमूलक व्यवहार से दूसरो का बुरा होता है, और उनका बुरा न भी हो तो उनके हित की उपेक्षा तो होती ही है। ऐसी भावना वाले आदमी अपने आपको चाहे जितना चतुर और व्यवहार-कुशल समझे, ये वास्तव मे अपना हित करने वाले नही होते। सृष्टि की रचना ही इस प्रकार की है कि समाज के आदमियो के हित जुदा-जुदा नही होते। एक के अहित से दूसरे का हित नही होता। हमारे सुखी रहने के लिए जरूरी शर्त यह है कि हम दूसरो के हित का ध्यान रखे। हमारी अर्थव्यवस्था नीति-मूलक या या मानवता-युक्त होगी, तभी हमारा कल्याण होगा। परिवार के सब सदस्यो का सुख-दुख मिला जुला होता है, समाज मे भी हमे केवल अपने सुख की कल्पना करना और दूसरोके सुख की अवहेलना करना अशोभनीय ही नही, विनाशकारी है। हमारी भावना सर्वोदय की रहनी चाहिए।

**मूल आधार, (१) सादगी या आवश्यकताओं का नियत्रण**—सर्वोदय भावना को अमल मे लाने के लिए खास तौर से तीन बाते आवश्यक हैं—सादगी, अपरिग्रह और शरीर-श्रम। पहले सादगी का विचार करे। आजकल सभ्य जीवन का आदर्श यह समझा जाता है कि हम अधिक से अधिक चीजों का उपयोग करते रहे, हमारी

आवश्यकताएँ नित्य बढ़ती रहे और हम उनकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के नये-नये प्रयत्न करते रहे। हमारी ये आवश्यकताएँ भौतिक इच्छाओ को पूरी करने, शरीर को सुख पहुँचाने और इन्द्रियो को तृप्त करने के लिए होती हैं। ये जरूरते निरन्तर बढती रहती हैं। हमे इनको पूरी करने से ही छुट्टी नही मिलती, फिर हम दूसरो के अभावो और कष्टो के लिए क्या विचार कर सकते हैं। कृत्रिम आवश्यकताएँ हमे मानव जीवन की असलियत से दूर ले जाती हैं। इनसे हमारी निजी, पारिवारिक तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बिगडती है। सर्वोदय भावना चाहती है कि हम अपनी भौतिक आवश्यकताओ पर नियन्त्रण करे, इच्छाओं पर प्रतिबन्ध लगावे और फैशन, विलासिता तथा बाहरी आडम्बर का मोह छोडकर सादगी का जीवन बितावे। सादगी का अर्थ है कि बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्ति की ओर ध्यान दे और उन्ही पदार्थों का सेवन करे, जो जीवन-रक्षक हो या हमारे स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता को बढाने मे सहायक हो। इस प्रकार हम समय और शक्ति के उपयोग मे मितव्ययिता करके उन्हे लोकहित मे लगाएँ, और आत्मिक सुख प्राप्त करे।

(२) अपरिग्रह—अपरिग्रह का अर्थ है, वस्तुओ का अनावश्यक सग्रह न करना, अपनी जरूरतों के अनुसार ही रखना। अच्छा, हमारी जरूरतों के परिमाण का निश्चय कैसे हो? मोटी-मोटी बातों मे मतभेद की गुजाइश नही है। भोजन की बात ले। थोडा-बहुत अन्तर होते हुए भी कोई आदमी दूसरो से सौ-पचास गुना नही खा सकता। मनुष्य की कपडे की आवश्यकता भी परिमित ही होती है। किसी को दर्जनो जोडी कपडो की क्या जरूरत है, जो अलमारियो या सदूको मे रखे रहते हैं, या इधर-उधर बिखरे पडे रहते हैं। मकान की बात सोचिए। किसी आदमी को कई-कई जुदा-जुदा मकानो की, या दर्जनो कमरो वाले मकान की क्या जरूरत है, जबकि उसके असख्य भाई बहनो के पास

मामूली सी कुटि या झोपडी का भी स्थान न हो। हम बहुत अधिक वस्तुएँ रखते हैं, इससे हमें उनको सभालने की फिक्र करनी पडती है, और हमारे दूसरे भाइयो को उन वस्तुओं के न मिलने से कष्ट होता है। हम अपरिग्रह की भावना अपनावे तो हमारी बहुत परेशानी दूर हो तथा दूसरो के अभावो की पूर्ति मे भी सहायता मिले।

(३) शरीर-श्रम—इस समय बहुत से शिक्षित और सभ्य कहे जाने वाले आदमियो की विचार-धारा ऐसी रहती है कि शरीर-श्रम कम से कम किया जाय। उत्पादन के लिए ऐसे उपाय निकाले जायँ, ऐसी मशीनो आदि का उपयोग किया जाय, जिनसे उन्हे काफी आय हो और दूसरे आदमियोको अपेक्षाकृत बहुत कम मिले। 'बुद्धिजीवी' सोचता है कि श्रम बचाने वाले उपायो को काम मे लाने से उसे खूब अवकाश मिलेगा और इस अवकाश का उपयोग वह अपने मनोरजन आदि में कर सकेगा। आजकल शरीर-श्रम से बचने की भावना इतनी फैली हुई है कि समाज मे अनेक आदमी डाक्टर, वकील, महन्त आदि कोई उत्पादक कार्य न करते हुए भी बहुत धन कमाते हैं, और उस धन से मान-प्रतिष्ठा पाते और मौज उडाते हैं। इससे समाज मे ऊच नीच की घातक धारणा फैलती है। इसलिए शरीरश्रम का, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे, एक विशेष स्थान रहना चाहिए।

स्मरण रहे, कि डाक्टर या वकील आदि जो योग्यता प्राप्त करते हैं, उसके लिए वे समाज के ऋणी हैं। उनकी योग्यता का समाज को यथेष्ट लाभ मिलना चाहिए, असल मे उस योग्यता पर समाज का अधिकार है—यह अधिकार आज की स्थिति मे कानूनी नही है, पर नैतिक तो है ही। अपने आपको बुद्धिमान कहने वाले सोचे कि क्या उनको केवल कानूनी अधिकार ही मान्य होगा! क्या वे नैतिक अधिकार को और भी अधिक महत्व न देगे?

———

## तीसरा अध्याय

# शिक्षा, जीवनोपयोगी

दिल्ली मे बच्चे जन्म लेते है, आपके इस गॉव मे भी जन्म लेते है । दिल्ली मे वे जवान होते है, इस गॉव मे भी वे जवान होते है और दिल्ली की तरह यहॉ भी लोग बूढे होते है और मरते है । लेकिन तालीम का पूरा इन्तजाम दिल्ली मे है, गॉव मे नहीं । हर गॉव मे जब पूरी जिन्दगी का इन्तजाम होता है तो पूरी तालीम का भी होना चाहिए ।

—विनोबा

इस बात की सख्त जरूरत है कि आजकल की इस तालीम की जगह एक अधिक कुदरती, अधिक काम की और अधिक सस्ती तालीम बच्चो को दी जाय, जो हर लड़के और लड़की को उसके लिए सबसे अच्छे और सबसे दिल-पसन्द काम के काबिल बना दे, वह तालीम जो बच्चो को जीवन के ठीक-ठीक आदर्श बताये और हमारी सारी मानव सभ्यता के इखलाकी और रूहानी वातावरण को बदल दे, इससे पहले कि हम बरबाद हो ।

—डा० भगवानदास

अब हम यह विचार करेगे कि जैसा समाज हम बनाना चाहते है, उसमें विविध विषयों के सम्बन्ध मे सर्वोदय-दृष्टि क्या है । इन बातों का अभी से ध्यान रखना तथा उसके अनुसार व्यवहार करना आवश्यक है । पहले शिक्षा का विषय ले ।

**आधुनिक विश्वविद्यालय**—कुछ समय हुआ, दो यूनिवर्सिटी प्रोफेसर मुझसे मिलने आये। सर्वोदय अर्थशास्त्र की बात उनके लिए कुछ कौतूहलजनक थी। उन्होंने कहा कि आपकी सर्वोदय व्यवस्था मे विश्वविद्यालय का तो कोई स्थान ही नही होगा। मैंने कहा कि सर्वोदय को विश्वविद्यालयो से कोई सैद्धातिक विरोध नही है, परन्तु आप सोचे कि जिस ढग से ये चल रहे हैं, जैसी शिक्षा का ये प्रचार कर रहे हैं। वह समाज का क्या, अथवा कहाँ तक हित-साधन करती है। उन मित्रो ने मेरे दृष्टिकोण को समझते हुए और कुछ स्वीकार करते हुए कहा कि वर्तमान शिक्षापद्धति बहुत दूषित है—यह तो ठीक है, पर आखिर उच्च शिक्षा की व्यवस्था तो रहनी ही चाहिए।

**उच्च-शिक्षा-पद्धति के दोष**—उन मित्रो से बातचीत करते समय मेरे सामने ये बाते थी—

( १ ) यह शिक्षापद्धति बेहद खर्चीली है। साधारण हैसियत के आदमियो की तो बात ही छोड दो, मध्यश्रेणी के अभिभावक को भी एक विद्यार्थी यूनिवर्सिटी मे पढाना बहुत भार प्रतीत होता है। इसके लिए उसे अपने रोजमर्रा के जरूरी खर्च मे कतरब्योत करना होता है और वह किसी तरह, बडी मुश्किल से, विद्यार्थी की जरूरते पूरी कर पाता है। ऐसा करते समय उसके मन मे भविष्य की सुन्दर कल्पनाएँ या आशाएँ होती है, जिन्हे प्राय. कार्यरूप मे परिणत होते नही पाया जाता। फिर जिस अभिभावक को यूनिवर्सिटी मे पढने वाले दो विद्यार्थियो का खर्च चलाना हो और खास कर जब वे दो विद्यार्थी होस्टल मे रहने वाले हो तो उसकी मनोदशा का क्या वर्णन किया जाय।

( २ ) विश्वविद्यालय के, और खासकर होस्टल मे रहने वाले विद्यार्थी शौकीन या फैशन-पसन्द हो जाते हैं। वे 'ऊँचे स्तर' का रहन-सहन रखते है और अपने अभिभावको तथा अन्य देशबन्धुओ की स्थिति को भूले रहते हैं। पढाई पूरी करने पर वे प्रायः नौकरी के ही

योग्य रहते हैं और केवल लिखा-पढी का काम चाहते हैं। वह न मिलने पर उनका जीवन बहुत निराशा और दुख मे बीतता है। कोई धन्धा मिल जाने पर भी आवश्यकताऍ बहुत अधिक होने से असन्तोष उनका पीछा नही छोडता।

( ३ ) हमारा शिक्षित कहा जाने वाला वर्ग लोक-सपर्क से दूर रहता है। उनकी एक अलग ही जाति सी बन गयी है, जो गॉव के जीवन को बहुत तुच्छ निगाह से देखती है, और शहरो के विलासितामय वातावरण मे ही रहना चाहती है।

( ४ ) विश्वविद्यालय के शिक्षक प्राय. साल भर मे कुल मिलाकर लगभग ६ मास काम करते है, फिर अधिकाश शिक्षकों के काम के घटे सप्ताह मे बीस पच्चीस से अधिक नही होते। तो भी इनकी योग्यता से नागरिक जावन को कुछ लाभ नही मिलता। इनसे उच्च सास्कृतिक विचारों के प्रचार की आशा पूरी नही होती।

( ५ ) अधिकतर शिक्षक अपने अवकाश के समय को, जो आवश्यकता मे कही अधिक होता है, अपने निजी स्वार्थ साधन मे ही लगाते ह। किस प्रकार किसी शिक्षा-समिति के सदस्य होकर या किसी विषय के परीक्षक होकर अपनी आमदनी बढाऍ, यही उनकी चिन्ता का विषय रहता है। कितने ही तो रीडरों या पाठ्य-पुस्तको के चक्कर मे पडे रहते हैं। मतलब यह कि ये सब काम आमदनी का ही चाहते हं, सेवा का नही।

( ६ ) विद्यार्थियों के सामने ऐसे गुरुजनो का उदाहरण रहने से उनके चरित्र-निर्माण की, अनुशासन की, लोक-सेवा की भावनाओ की, दीन-दुखी भाइयो से सहानुभूति और सहयोग की क्या आशा की जाय! वे श्रमजीवियों की रक्षा पर लच्छेदार भाषा मे लम्बा चौड़ा निबध लिख सकते हैं, पर कभी उनके साथ समरस होने की कल्पना नही कर

सकते। शरीर-श्रम की वे प्रशसा कर सकते हैं, पर उसे जीवन मे स्थान देना अपना दुर्भाग्य ही समझेगे।

( ७ ) विश्वविद्यालय केवल बौद्धिक विकास की ओर ध्यान देकर जीवन को एकागी और एकपक्षीय बनाते हैं। ये राष्ट्र-शरीर मे पक्षाघात का रोग फैलाते हैं।

**माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा**—ऊपर उच्च शिक्षा की बात कही गयी है। दोष तो सारी ही शिक्षा मे है। प्राथमिक शिक्षा मे बालको के शिक्षको को खास-खास विषयो का निर्धारित ज्ञान होना पर्याप्त समझा जाता है, स्वय बालको के सम्बन्ध मे उन्हे कितना ज्ञान है, इसका विचार नही किया जाता। ये शिक्षक बालको के स्वभाव रुचि, विचार, तथा मन पर होने वाली क्रिया-प्रक्रिया के अनुभवी नही होते और जैसे-तैसे कुछ बाते बालको के मन मे ठूस देने और कुछ लिखना-पढना सिखा देने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। इस शिक्षा का विद्यार्थियो के जीवन से कुछ मेल नही बैठता, वे इसे जल्दी ही भूल जाते हैं।

माध्यमिक शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी किसी उत्पादक शरीर-श्रम का अभ्यास नही करते, वे उसकी इज्जत या प्रेम नही करते। परिणाम यह होता है कि उनका विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर उनके सामने आजीविका प्राप्त करने की भयकर समस्या उपस्थित हो जाती है और वे उसे हल करने मे असमर्थ रहते हैं। खेती या उद्योग-धधा करने लिए उनकी योग्यता नहीं होती, गॉव का जीवन उन्हे अरुचिकर लगता है। वे नौकरी की खोज मे परेशान रहते हैं, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन नही बिता सकते। नागरिकों के अन्य कर्तव्यो के पालन करने की उनसे क्या आशा की जाय!

**सर्वोदय दृष्टि से विचार, शिक्षा सबको सुलभ**—वर्तमान अवस्था में गरीब लडका, चाहे वह बहुत तेज और बुद्धिमान हो,

ऊँची शिक्षा पाने से वञ्चित रहता है, इसके विपरीत, धनवान लड़का बहुत बुद्धू होने पर भी ऊँची शिक्षा का प्रमाणपत्र पाने मे सफल हो जाता है। इसलिए विद्या का आधार पैसा न होना चाहिए। शिक्षा का द्वार सब के लिए समान रूप से खुला रहना चाहिए उसमे धनी-निर्धन का भेदभाव न होकर सबके लिए समान व्यवस्था होनी चाहिए। हम प्राचीन काल मे कृष्ण और सुदामा के एक-साथ विद्याध्ययन करने की बात याद रखे और उस परम्परा को बनाये रखे।

**गॉव मे पूरी जीवन-शिक्षा**—इस समय गॉव मे प्रारम्भिक पाठशाला ही होती है ( कुछ गॉवो मे तो वह भी नही ), उसकी पढाई पूरी करके विद्यार्थी पास के कस्बे मे जाता है, उसके बाद आगे पढने के लिए किसी शहर मे, और विश्वविद्यालय की पढाई के लिए तो राज्य के किसी केन्द्रीय नगर मे जाना होता है। सोचने की बात है, आदमी रहते गाव मे है, वहॉ ही उनकी सतान का जन्म होता है, बालक बडे होते है, विवाह शादी होती है, वहॉ ही वे कमाते-खाते है, बीमार भी पडते है—ये सब काम गॉव मे होते है। इस प्रकार जीवन गॉव मे व्यतीत होता है तो जीवन के उपयोगी शिक्षा भी गॉव मे ही मिलनी चाहिए। गॉव मे प्रकृति की खुली पुस्तक है, लोक जीवन है, लोक भाषा है, भूगोल है, इतिहास है, अर्थ व्यवहार, गणित और नागरिकता सब विषयो की सामग्री मौजूद है। इसका वहॉ यथेष्ट उपयोग होना चाहिए। हमारी विद्यापीठे गॉव-गॉव म हो, हमारे विद्यालय खेतो और उद्योग-गृहो मे हो, हमारे शिक्षित बालक सर्वप्रथम किसान और औद्योगिक हो, हमारे शिक्षक भी खेतिहर और औद्योगिक हो, प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र की शिक्षा-सस्थाऍ स्थानीय परिस्थिति को लक्ष्य मे रखते हुए जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताऍ पूरी करने वाली और समस्याओ को हल करने वाली हो।

**विशेष वक्तव्य**—इस प्रकार हमारी शिक्षा-पद्धति मे मुख्य बाते ये हो—

१—शिक्षा का आधार या केन्द्र खेती या किसी प्रकार की दस्तकारी हो, और सब विषय उसके ही सहारे सिखाये जायँ।

२—खेती तथा दस्तकारी का चुनाव स्थानीय परिस्थिति को ध्यान मे रखकर किया जाय। जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं—भोजन और वस्त्र आदि की पूर्ति को प्राथमिकता दी जाय। शिक्षा जीवन से मेल खाने वाली हो।

३—विद्यार्थी शरीर-श्रम का आदर करने वाले ही नही, उसका अभ्यास करने वाले हो।

४—विद्यार्थी देश की साधारण जनता के सपर्क मे रहे, ग्रामीण भाइयो से अपने को अलग वर्ग का न माने।

५—शिक्षक अपने कार्य की पवित्रता और उत्तरदायित्व का अनुभव करे। उन्हें भावी राष्ट्र का सुन्दर निर्माण करने मे भरसक भाग लेना है। शिक्षा-कार्य उनके लिए केवल कुछ आय-प्राप्ति का नही, लोक-कल्याण का साधन है।

६—शिक्षा का उद्देश्य सुयोग्य, स्वावलम्बी, लोकसेवी, उदार, मानवता-प्रेमी नागरिक तैयार करना है जो समाज, देश और ससार के लिए शोभास्पद हो। उससे मनुष्य का सर्वांगीण—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक—विकास हो।

७—शिक्षा किसी खास विषय के ज्ञान मे ही सीमित न मानी जाय, हमे जीवन की शिक्षा चाहिए। विद्यार्थियो मे ऐसे सस्कार डाले जायँ कि वे अपने जीवन मे जो भी काम करे उसे आनन्दपूर्वक मन लगाकर करे। उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सुख-शान्ति और विकास का अनुभव हो।

---

चौथा अध्याय

# स्वास्थ्य और चिकित्सा, सब को सुलभ

---

डाक्टर, वैद्य, हकीम तीनों कमाने का पेशा करते हैं, दूसरों के भले के लिए वे चिकित्सा-कार्य नहीं सीखते। यह दूसरी बात है कि इनमें कोई-कोई परोपकारी भी होते हैं। केवल एक कुदरती इलाज ही है कि जिसका जन्म परोपकार में हुआ है।

—गाँधी जी

वही चिकित्सा सच्ची है, जो प्रकृति स्वयं करती है। डाक्टरों की औषधियाँ केवल लक्षणों को रोकने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु रोग को अच्छा नहीं करतीं।

शोपनहार

सर्वोदय की जो जीवन-योजना है, उसमें कुदरती इलाज के लिए एक विशेष स्थान है।

—विनोबा

स्वास्थ्य की दृष्टि से आदमी स्वावलम्बी बना है—इस सृष्टि में मनुष्य को छोडकर अन्य सब प्राणी प्रायः स्वस्थ ही रहते हैं। कोई पशु-पक्षी बीमार कम ही नजर आता है। जिन्हें हम बीमार पाते हैं उनके बारे में विचार करें तो वे ऐसे ही होते हैं, जो प्राकृतिक जीवन छोडकर, मनुष्य के सम्पर्क में आने के कारण अस्वाभाविक आहार-विहार करने लग गये हैं। वास्तव में प्रकृति की योजना ऐसी है कि हरेक प्राणी स्वावलम्बी है। उसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह सृष्टि में मौजूद है, प्राणी थोडे परिश्रम से उसका उपयोग कर

सकता है। इस प्रकार आदमी जरा समझ से काम ले, और सब आपस मे सहयोग भाव रखे तो जीवन-यात्रा मे कोई बाधा न हो। उसके लिए हवा, पानी, मिट्टी, प्रकाश किसी चीज की कमी नही। अन्य बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्ति वह सहज ही कर सकता है। इस प्रकार उसमे स्वस्थ रहने की समुचित क्षमता है, अर्थात् प्रकृति की ओर से स्वास्थ्य सबको सुलभ है।

आदमी बीमार क्यो पडते है? अप्राकृतिक जीवन—जब मनुष्य को स्वस्थ रहने की सब सुविधाएँ प्राप्त हैं तो फिर वह बीमार क्यो पडता है। आजकल तो अधिकाश आदमी किसी न किसी बीमारी की शिकायत करते ही मिलते है। बात यह है कि आदमी धीरे-धीरे प्रकृति से दूर होता गया है, उसका जीवन प्राकृतिक न होकर बहुत कुछ कृत्रिम हो गया है। वह शुद्ध ताजी हवा का और धूप का यथेष्ट सेवन नही करता। भोजन तो वह तरह-तरह का तैयार करके खाता है, जिससे उसके गुण नष्ट या कम हो जाते है। कपडा, जहाँ तक आदमी का वश चलता है, आवश्यकता से अधिक पहनता है, जिससे समाज मे अच्छा दीखे। इस प्रकार आदमी सभ्यता मे जितना आगे बढता जा रहा है, उतना ही वह प्रकृति से विमुख होता जाता है और फलस्वरूप बीमारियो का अधिकाधिक शिकार बनता जाता है। सब जानते हैं कि जगलो मे रहने वाले आदमी ( आदिवासी आदि ) बहुत स्वस्थ रहते हैं और गाँव वाले शहर वालो की अपेक्षा स्वस्थ होते हैं। 'सभ्यता' मे आगे बढना बीमारियो को आमन्त्रित करना है।

शोषण और दरिद्रता—अच्छा, गाँवो मे बीमारियाँ क्यो बढ रही हैं? गाँवो मे बीमारियो के बढने का एक कारण तो यही है कि वे शहर वालो की देखादेखी सभ्य दिखायी देने का प्रयत्न करते हैं, चाय, बीडी, पान, तमाखू आदि का सेवन अधिक करते जाते हैं। दूसरी बात यह है कि शहरो द्वारा गाँवो का शोषण होता है, और

गाँवों के महाजन या जमींदार आदि भी अपने दूसरे भाइयों का शोषण करते रहते हैं। इससे गाँवों के अधिकांश आदमी बहुत गरीबी का जीवन बिताते हैं। वे प्राय: बहुत घटिया या खराब अन्न खाते हैं, और अनेक बार उन्हें वह भी काफी परिमाण में नहीं मिलता तो सकरकन्द, प्याज, महुआ, ककड़ी आदि तथा वृक्षों की छाल और पत्ते खाकर अपनी भूख शान्त करने को मजबूर होते हैं। कितने ही आदमियों को काफी समय आधा-भूखा रहना होता है, कपड़ा तो सर्दी में भी उनके शरीर पर नहीं के बराबर ही रहता है। ऐसे आदमी तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हों, यह स्वाभाविक ही है।

शोषितों के साथ शोषक भी प्राय. बीमार रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे मुफ्त की, बिना मेहनत की रोटी खाते हैं। उनका दिन का समय बैठे-बैठे गुजरता है। गाँव में आदमी मनोरंजन के लिए ताश या शतरंज खेलते रहते हैं, और शहरों में सिनेमा आदि देखा करते हैं। इस प्रकार श्रम न करने से उनकी पाचन-शक्ति कम हो जाती है और उन्हें विविध रोग लग जाते हैं।

**औषधियों का सेवन, हानिकारक**—जब आदमी बीमार पड़ते हैं तो उसके असली कारण का विचार न कर वे रोग-मुक्त होने के लिए डाक्टरों और वैद्यों की शरण लेते हैं, जो तरह-तरह की औषधियाँ देते हैं। अधिकांश औषधियाँ मानव शरीर के लिए विजातीय होती हैं, इनका शरीर से मेल नहीं बैठता, ये अन्न, शाक, फल आदि की तरह हजम होकर शरीर का अंग नहीं बनतीं। प्रकृति को ये पदार्थ शरीर से निकालने में बड़ी शक्ति लगानी पड़ती है। इस प्रकार, चाहे औषधियों से कुछ समय के लिए किसी बीमारी में कुछ आराम होता मालूम हो, आगे-पीछे वे बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती हैं। परन्तु लोभी डाक्टर और वैद्य अपने मरीजों को भ्रम में डाले रखते हैं, और रोगी आदमी दवाइयों के चक्र में पड़े रह कर अपने स्वास्थ्य और सम्पत्ति को क्षति पहुँचाते रहते हैं।

**अस्पतालों से अधिकांश जनता को कोई लाभ नहीं**—अच्छे या ऊँचे दर्जे के कहे जाने वाले अस्पताल गाँव-गाँव मे तो हो ही नहीं सकते। वे कस्बों मे भी कम हैं। वे तो राज्यों के खास-खास केन्द्रीय नगरो मे ही हैं। इन ऊँचे दर्जे के अस्पतालों का उपयोग उनके आसपास के ही आदमी कर सकते हैं, वे भी बहुत ही परिमित सख्या मे। दूर के तो वे ही आदमी वहाँ पहुँच सकते हैं जिनके पास काफी पैसा खर्च करने को हो। अस्तु, अधिकाश स्थानीय जनता के लिए भी इन अस्पतालो का कोई उपयोग नही। अनेक आदमी निजी तौर पर चिकित्सा करने वाले डाक्टरो और वैद्यो से काम लेते हैं। बहुतो को उनकी सहायता या परामर्श भी सुलभ नही होता, और सुलभ होने की आशा ही नहीं की जा सकती। फिर भी चिकित्सा की मद मे देश का कितना धन खर्च हो रहा है। इनसे यदि कुछ लाभ पहुँचता भी है तो मुट्ठी भर धनी लोगों को। इस प्रकार इन मे पैसा और शक्ति लगाना प्राय: उसका दुरुपयोग ही करना है।

**प्राकृतिक जीवन के प्रचार की आवश्यकता**—आदमी भूल जाता है कि प्रकृति ने हमारे शरीर की रचना मे ही रोग-निवारण की व्यवस्था कर दी है। अगर हम अपना जीवन प्राकृतिक बनाने की ओर ध्यान दे तो हमे बहुत करके बीमार ही न होना पडे और यदि कभी बीमार हो भी जायें तो प्रकृति द्वारा दिये हुए पदार्थों—जल, वायु, तेज, आकाश और मिट्टी—के उपचार से, और भोजन मे आवश्यक परिवर्तन या सुधार से हम सहज ही आरोग्य लाभ कर सकते हैं। हमारा शरीर पचतत्वों या महाभूतों से बना है, हमारी चिकित्सा मे इन्ही पदार्थों का उपयोग होना चाहिए।

यदि कोई चिकित्सा सर्वसाधारण को सुलभ हो सकती है तो वह प्राकृतिक चिकित्सा ही है। इसके जाननेवाले शहरों के जुदा-जुदा हिस्सो मे, तथा हरेक गाँव मे बैठे। इनमे इनका मुख्य काम चिकित्सा करना

नहीं वरन् लोगों का, प्राकृतिक जीवन या रहनसहन रखने के विषय में, आवश्यक पथ-प्रदर्शन करना हो, जिससे आदमी बीमार पडने पर स्वय अपने-अपने घर पर ही उचित उपचार कर लिया करे।

**प्राकृतिक चिकित्सा के साधन सब को सुलभ**—प्राकृतिक चिकित्सा के लिए हमे दूर दूर से कीमती औषधियाँ मगाने की जरूरत नही। ये तो हर जगह हर आदमी को सुलभ हैं। श्री विनोबा ने कहा है—'वनस्पतियो का भी बहुत आधार लेने की आवश्यकता नही होनी चाहिए। मिट्टी का उपचार हो सकता है, पानी का उपचार हो सकता है, प्रकाश का उपचार हो सकता है। शरीर मे जो भी चीज भरी हैं, वह सारी ब्रह्माड मे भी मौजूद हैं। बाहर पानी है तो शरीर मे रक्त आदि भरा है। बाहर सूर्यनारायण है तो शरीर मे आँख हे और प्रकाश है। बाहर वायु है तो शरीर मे साँस है। यहाँ तक कि बाहर जो सोने और लोहे की खाने हैं, वह भी हमारे शरीर मे मौजूद ह। यानी हमारे रक्त आदि मे जो धातु पडे हैं उनमे लोहा भी है, ताँबा भी है और सुवर्ण भी है। यह सारी चीजें जो ब्रह्माड मे हैं, वे पिंड में भी पडी हैं। शरीर ही जब ब्रह्माड का बना हुआ है तो पृथ्वी, आग, तेज, वायु, आकाश इन चीजों का खूबी के साथ निर्भयता पूर्वक प्रेम से अगर उपयोग करे तो बहुत सारे रोगों का हल हो सकता है।'[*]

**विशेष वक्तव्य**—प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषता के विषय मे हमने कुछ विस्तार से अपनी 'प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यो?' पुस्तक में लिखा है। यहाँ हमे मुख्य बात यह कहनी है कि हम समाज मे सब का हित चाहते हैं। हमे स्वास्थ्य और चिकित्सा के ऐसे ही साधनो का प्रचार और उपयोग करना चाहिए जो सब को सुलभ हो सके, कुछ थोडे से आदमियो के ही काम मे आसकने वाले साधनो की वृद्धि

---

[*] सर्वोदय यात्रा

मे समाज की शक्ति लगना अनैतिक और अनिष्टकारी है। गाँधी जी ने अपने जीवन मे साहस-पूर्वक प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी अनेक कठिन प्रयोग किये, और अपने अनुभव से कहा है—'जिस चीज का मनुष्य पुतला है, उसी से इलाज ढूँढे। पुतला पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु का बना है। इन पाँच तत्वो से जो मिल सके सो ले।... शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न सब करें और उसी प्रयत्न मे कुदरती इलाज अपने आप मर्यादित हो जाता है। दुनिया के असख्य लोग दूसरा कर भी नही सकते, और जिसे असख्य नही कर सकते, उसे थोडे क्यों करे।'

---

पांचवां अध्याय

# साहित्य कला और विज्ञान, लोकहित के लिए

---

जीवन मे वास्तविक पूर्णता प्रदान करना ही कला है। ससार मे वही सत्य और सुन्दर कला के उदाहरण उत्पन्न कर सकता है, जिसका हृदय सुन्दर है।

—गाधी जी

यदि विज्ञान का नियत्रण कुछ ही व्यक्तियो के हाथ मे रहा तो ससार को एक बडे सकट का सामना करना पडेगा। मैं तो इस क्षेत्र मे भी विकेन्द्रीकरण का सुझाव दू गा।

—विनोबा

नये युग का करे दर्शन सुकवि स्वरकार से कह दो,
कलम में हो नया जादू कला—अवतार से कह दो।
नया साहित्य लिखना है—समय की छाप हो जिसपर,
सरल अभिव्यक्ति हो जिसकी कि जो हो—सत्य-शिव-सुन्दर॥

—ओकारसिह निर्भय

सर्वोदय दृष्टि मे मानव जीवन की सभी प्रवृत्तियो का उद्देश्य लोकहित होना चाहिए। यहा साहित्य, कला और विज्ञान के सम्बन्ध मे सक्षेप विचार किया जाता है। 632

[ १ ]

## साहित्य

**साहित्य किसे कहें ?**—साहित्य के सम्बन्ध मे विचार करते समय यह ध्यान रखने की बहुत जरूरत है कि आजकल इसके नाम पर लिखी या छपी जितनी चीजे सामने आती हैं, वे सब साहित्य नही है, उनमे से अधिकाश तो साहित्य के नाम पर कलक-रूप हैं। वर्तमान काल मे प्रेस या छापेखाने के सहारे एक पुस्तक या अखबार आदि की हजारो, और कुछ दशाओ मे लाखो प्रतिया छपती हैं। स्वार्थी आदमी या सस्थाएं प्राय. ऐसी चीजे छपाती हैं, जिनके ग्राहक अधिक मे अधिक मिलने की आशा होती है, या जिनके प्रचार से उन्हे निजी लाभ खूब होता है, चाहे समाज की कितनी ही हानि हो। वास्तव मे इसे साहित्य नही कहना चाहिए। साहित्य तो वही है, जिसमे मनुष्य के विकास मे सहायता मिले, जो पाठको को अच्छा लोकहितकारी जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे, जिससे समाज की न केवल आर्थिक वरन् नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो।

विनोबा ने कहा है—साहित्य तो वही है जो आत्मा के सहित, आत्मा के साथ चलता है। सहित यानी चलने वाला साथी। इसलिए जब वह अन्दर की गहरायी से बाहर आता है, तब सारे ससार को पावन करता है। वह किस गुहा से निकलता है, किसी को मालूम नही है। उस गुहा मे दुनिया की पहुँच नही है। गगा जब बाहर आती है, तब लोग उसे पहचानते हैं और गगावगाहन (गगास्नान) करते हैं।[१]

**साहित्यकार कौन ?**—इसी प्रकार प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो कुछ लेखन-कार्य करता है—निबन्ध, कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी

[१] 'साहित्यिको से' पुस्तक से

आदि लिखता है—साहित्यकार नहीं कहा जाना चाहिए चाहे उसकी एक-एक रचना की हजारों, लाखों प्रतियां छपती हों, और उससे उसे खूब प्रसिद्धि तथा धन प्राप्त होता हो। साहित्यकार वही व्यक्ति है जिसका हृदय और दृष्टिकोण उदार हो जिसके मन में मनुष्य जाति के सुख-दुख की अनुभूति होती हो, जिसे दूसरों के उत्थान की चिन्ता और लगन हो, जिसे जनता को कुछ हितकारी संदेश देने के लिए बेचैनी और छटपटाहट हो। ऐसा व्यक्ति चाहे कितना ही कम लिखे, या न भी लिखे, साहित्यकार है। जब वह लिखता है तो उसके मन में न यह अभिलाषा होती है कि इसके प्रतिफल-स्वरूप मुझे बहुत आमदनी हो या प्रतिष्ठा मिले, और न उसे यह अभिमान ही होता है कि मैं संसार का कुछ उपकार कर रहा हूँ। वह तो स्वयं अपनी मानसिक इच्छा की पूर्ति के लिए लिखता है, और जो लिखता है, उसमें लोक-रुचि की या किसी को प्रसन्न करने की भावना नहीं होती। उसे जो अन्तःकरण से प्रेरणा होती है उसे वह सीधी सादी वाणी में व्यक्त करता है।

**साहित्यकार का जीवन**—सच्चे साहित्यकार को भाषा के पांडित्य की या शब्दों की कलाबाजी की जरूरत नहीं। उसे तो अच्छे गुणों की और ऊंचे चरित्र की जरूरत है। आज दिन साहित्यकार कहे जाने वाले कितने ही व्यक्ति अपने आपको जन-साधारण से जुदा एक विशिष्ट दुनिया का प्राणी मानते हैं और रोजमर्रा के श्रम-साध्य कार्य करना कुछ अपमानजनक सा समझते हैं। वे अपने मन को प्रसन्न करने की या कुछ रईसी दिमाग वालों की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की धुन में रहते हैं। वास्तविक साहित्यकार को जनता का आदमी, जन-समाज में काम करने वाला होना चाहिए।

**विनोबा के विचार**—इस प्रसंग में अन्य बातों के अतिरिक्त विनोबा ने कहा है—'हिन्दुस्तान का साहित्य ऐसे लोगों के कारण बढ़ा

है, जिन्होने लक्ष्मी को माता समझा, दासी नही। जो निरतर साहित्य का सर्जन करते थे, वे समाज मे काम करते रहे और शरीर के लिए जीवनाधार के तौर पर जो कुछ मिलता था, उसी से सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने राजाओं की परवाह नही की। पैसे से वे खरीदे नही जा सकते थे।

'· कबीर बुनकर न होता तो कबीर नही बनता। उस जमाने मे छापाखाने नही थे, फिर भी उनके बिना ही कबीर के काव्य का प्रचार हुआ। वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख दुख को वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मै मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग करने वाला हो सकता है। फकीर भी हो सकता है, जो जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरो को तो खाना मिले तो भी स्फूर्ति होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती है। इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि का उपासक भक्त, दोनों मे से एक बनना चाहिए।'[1]

[ २ ]

## कला

**कला और उसका प्रयोजन**—साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जिससे मनुष्य को सुख मिले, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, तथा जिसमे उसे सौन्दर्य का अनुभव हो, वही कला है। मनुष्य को हमेशा सुख की खोज रही है। सुख का एक प्रकार वह है जिसका अनुभव हमारे शरीर को, हमारी इन्द्रियो को होता है। यह बाह्य सुख है और बहुत से आदमियो के लिए यही सब कुछ है। तथापि यही कोई स्थायी, सूक्ष्म या ऊँचे दर्जे का सुख नही है। उसके लिए चाहिए हृदय का आनन्द या भावो की सुन्दरता। यही कला है। यह खाना

१ 'साहित्यिको से' पुस्तक से

खाने, कपडा पहनने, बातचीत करने, रहनसहन आदि किसी काम को सुन्दर ढग से करने का नाम है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कला का स्थान है। जब कला का जीवन मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तो इस प्रश्न के लिए कोई गुजायश ही नही कि कला का क्या प्रयोजन है। उसका एकमात्र उद्देश्य है मनुष्य को पशु-जीवन से ऊचा उठाना, उसे मानवता प्रदान करना, और वास्तव मे मनुष्य बनाना।

**कलाकारो का उत्तरदायित्व**—कला मानव जीवन के लिए हितकर उसी अवस्था मे हो सकती है, जब उसका ठीक-ठीक उपयोग हो। इसलिए कलाकारो को बहुत विवेक-पूर्वक कार्य करना चाहिए। वे कला के नाम पर जो चीज दे, वह मानवता का विकास करने वाली हो, जीवन का ऊँचा उठाने वाली हो। हम, जैसे इस समय है, पिछली पीढियो के ज्ञान, विचार और अनुभवो से प्रभावित हैं। भावी पीढियाँ कैसी बनेगी, उनका आचार व्यवहार कैसा होगा, इसकी जिम्मेवारी हम पर है। ऐसा न हो, हम कला के नाम पर ऐसे चित्र या मूर्तियाँ बनावे, या ऐसे सगीत का प्रचार कर, जिसका कुफल हमारे समय के ही समाज को नही, वरन् चिरकाल बाद तक आने वाली पीढियो को भी भोगना पडे।

कला भीतरी भी होती है, केवल बाहरी नही। जब तक कला मनुष्य का आन्तरिक विकास भी करती है, तभी कला की सार्थकता है। इसके लिए आवश्यक है कि कलाकार केवल कलात्मक कृतियाँ बनाने की ओर न लगे रह कर अपने निर्माण की साधना करे, अपना चरित्र ऊचा रखे, सादगी और सेवा की दीक्षा ले। तभी वह अपना कर्तव्य पूरा कर सकेगा।

**कला का आदर्श**—कला का आदर्श 'सत्यम्, शिवम और सुन्दरम्' है। यदि किसी कार्य मे केवल सौन्दर्य को ही प्रधानता दी

जाय और वह भी उच्छृंखलता-पूर्वक, सत्य का नाममात्र का आसरा लिया जाय और शिवम् अर्थात् लोक-कल्याण की उपेक्षा कर दी जाय तो वह कार्य मनुष्य को पशुत्व को हटाने और उसे मनुष्यत्व प्रदान करने मे समर्थ न होगा। सौन्दर्य को उसी सीमा तक स्थान मिलना चाहिए जहाँ तक वह शरीर के साथ मन और आत्मा के विकास मे सहायक है, यही नही, जिससे मन और आत्मा का विकास नही होता, वह सौन्दर्य ही नही है। अस्तु, कला मनुष्य का बाहरी और भीतरी, तथा बाहरी से अधिक भीतरी विकास करने वाली और लोकहित करने वाली होनी चाहिए।

[ ३ ]

## विज्ञान

**विज्ञान ने मनुष्य को महान शक्ति प्रदान की**—स्थूल और सूक्ष्म, जड और चेतन, किसी भी पदार्थ या विषय का तर्कसगत और सिलसिलेवार ज्ञान विज्ञान कहलाता है। इसका क्षेत्र अनन्त है। आजकल भौतिक विज्ञान को बहुत महत्त्व दिया जाता है और विज्ञान कहने मे प्राय इसी का आशय लिया जाता है। इस विज्ञान ने मनुष्य को जल, थल और आकाश पर अनन्त शक्ति दे दी है और देता जा रहा है। मनुष्य अब प्रकृति के बहुत से रहस्यो को जान गया है, उसे निरन्तर नये-नये ज्ञान की प्राप्ति होती जाती है।

**शक्ति के उपयोग और दुरुपयोग की बात**—विज्ञान से प्राप्त शक्ति के उपयोग से मनुष्य ने अपने आप को बहुत सुखी बनाने का प्रयत्न किया है। खानपान, यात्रा, विश्राम आदि के आजदिन कितने साधन विद्यमान हैं। प्राचीन काल मे असभव समझे जाने वाले अनेक कठिन कार्य अब बिलकुल आसान हो गये हैं और आदमी इसी दुनिया

मे स्वर्ग या वहिश्त का सा आमन्द ले रहा है. वह अपने साथी पडोसियो की ही नही, सैकडों हजारो मील दूर रहने वालो की भी अनुपम सेवा और सहायता कर सकता है। परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। पहले जव विज्ञान की इतनी उन्नति नही हुई थी, आदमी एक दूसरे की इतनी हानि नही करते थे, नही कर सकते थे। आज विज्ञान की सहायता से आदमी की घातक शक्ति बहुत बढ भी गयी है। आदमी अपने भोग-विलास की सामग्री वढाने मे लगा है और जिस किसी को वह इसमे बाधक समझता है उसके प्रति क्रूर व्यवहार करने मे उसे सकोच नहीं होता। विज्ञान के दुरुपयोग ने मानवता का ह्रास कर दिया है।

आदमी की दयनीय दशा—आदमी भौतिक विज्ञान की शक्ति को पाकर कुछ बौखला सा गया है, वह नही जानता कि इसे किस काम मे लाना ठीक होगा। उसकी स्थिति आस्कर वाइल्ड की एक आख्यायिका के नायको की सी हो गयी है। उसमे कहा गया है—

एक वार हजरत ईसा नगर मे घूम रहे थे। उन्हें एक जगह बहुत शोरगुल सुनायी दिया। उन्होंने देखा कि एक नवयुवक शराब पिये हुये है, वह घर वालो से लडझगड रहा है और बुरे भले शब्द कह रहा है। ईसा ने उसे शान्त करते हुए पूछा—'तुम मद्यपान मे अपनी आत्मा का हनन क्यो कर रहे हो?'

युवक—प्रभु! मै एक कोढी था, आपने मुझे स्वस्थ कर दिया, अब मै और कर ही क्या सकता हूँ!

आगे चल कर एक युवक को वेश्या का पीछा करते देख कर ईसा ने पूछा—तुम व्यभिचार मे अपनी आत्मा का विनाश क्यो कर रहे हो?

उत्तर मिला—प्रभु! मै अन्धा था। आपने मुझे नेत्र दिये। अब इसके अतिरिक्त मै और क्या करूँ!

अन्त मे ईसा ने एक बुड्ढे को जमीन पर पड़े, रोते देखकर पूछा—तू क्यों रो रहा है ?

बुड्ढे ने उत्तर दिया—'मै मर गया था, आपने मुझे जीवन दान दिया, अब रोने के अतिरिक्त मैं और क्या करूँ ?

इस आख्यायिका मे नायक ईसा से प्राप्त अपने स्वास्थ्य को मदिरा-पान मे, देखने की शक्ति को व्यभिचार मे, और जीवन की शक्ति को रोने-धोने मे खर्च करते है। इसी प्रकार आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति का उपयोग (?) स्वय अपने तथा दूसरो के अहित मे कर रहा है।

**आध्यात्मिक और भौतिक विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता**—आदमी की इस दुर्दशा का कारण यह है कि उसकी वैज्ञानिक उन्नति एकागी हुई है। मनुष्य का हृदय यथेष्ट उदार नहीं हुआ, वह दूसरो से आत्मीयता का अनुभव नहा करता। दूसरे शब्दो मे उसे आध्यात्मिक विज्ञान की भी समुचित साधना करनी चाहिए। भौतिक विज्ञान से हम अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के साथ यह भी ध्यान रखे कि उन आवश्यकताओ पर नियत्रण रखना भी बहुत जरूरी है। इस प्रकार अपनी शक्ति और समय को बचा कर उसका उपयोग लोकसेवा मे किया जाय। इससे आदमी को जो अद्भुत आनन्द मिलेगा, वह पहले से ध्यान मे आना कठिन है, वह तो लोकसेवा करने पर ही अनुभव में आएगा।

**अहिंसा की अनिवार्यता**—आध्यात्मिक विज्ञान से प्रेम, सेवा, अहिंसा आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। तथापि इस बात का स्पष्ट उल्लेख करना है कि आज दिन भौतिक विज्ञान की उन्नति से मनुष्य ऐसी स्थिति मे आ गया है कि अहिंसा के बिना उसका जीवन सकट-ग्रस्त होगा। विनोबा ने कहा है कि 'यह अहिंसा का ही युग है। विज्ञान के साथ अगर अहिंसा न रही तो मानव खतम हो जायगा। केवल विज्ञान से लड़ाइया बढ़ेगी और कोई लाभ नही होगा। अणुबम और

उद्जन (हाइड्रोजन) बम आदि के आविष्कारों और प्रयोगों ने राष्ट्र-सूत्रधारों को इस ओर ध्यान देने के लिए विवश किया है। पर अभी बहुत गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है ।

विशेष वक्तव्य—साहित्य, कला और विज्ञान के विषय में हमारी 'मानव संस्कृति' पुस्तक में खुलासा लिखा गया है। इस अध्याय की कुछ बातें उसी से संकलित कर यहाँ संक्षेप में दी गयी हैं। मूल बात यह है कि इन प्रवृत्तियों का उपयोग मनुष्य के निजी सुख या स्वार्थ-साधन के लिए न होकर लोकहितार्थ होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार, कलाकार और वैज्ञानिक सादगी, संयम और सेवा का जीवन बितायें ।

---

छठा अध्याय

# सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

धर्म का मतलब सत्य यानी ईश्वर की प्राप्ति है। धर्म प्रेम का पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा? मनुष्य एक ओर तो ईश्वर की पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्य का तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नही।

—गांधी जी

आज हम लोगो को केवल एक नैतिक उपदेश देते रहे तो उससे काम नही होगा। आज तो हमे लोगों की मुश्किले दुश्वारिया दूर करनी होगी, तभी उनमे सद्विचार स्थिर होगे। जिस वक्त आसपास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्ति का ध्यान करने बैठे तो यह भक्ति-मार्ग का लक्षण नही होगा। उस समय तो हाथ में बाल्टी लेकर आग बुझाने के लिए दौडना ही भक्ति-मार्ग का लक्षण होगा।

—विनोबा

धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त है—इस समय ससार मे अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित है। प्रत्येक धर्म के उपदेशो और शिक्षाओं सम्बन्धी बहुत सा साहित्य है। खासकर मुख्य-मुख्य धर्मों के साहित्य का परिमाण तो निरन्तर बढता जाता है। आदमी अपने-अपने धर्म के प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषो के वाक्यो की तरह-तरह की व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओ मे छपवाते और प्रचार करते रहते है। इस प्रकार एक-एक धर्म सम्बन्धी इतने ग्रन्थ है कि आदमी जन्म भर उन्हे ही पढता रहे तो भी सब को न

पढ सके, और साधारण आदमी अकेले इसी काम में लगा भी नहीं रह सकता। अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओं का तथा टीका-टिप्पणियों का कोई अन्त नहीं।

**धर्म का सार**—साधारण मनुष्य को धर्म की बारीकियों और उलझनों में पड़ने की आवश्यकता नहीं। मुख्य तत्व की बात जान लेनी चाहिए। कबीर ने ठीक बताया है।

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होय॥

इसी प्रकार तुलसी ने भी कहा है—

परहित सरस धर्म नहि भाई
पर पीड़ा सम नहि अधमाई।

इस तरह सरल सीधी भाषा में धर्म का अर्थ प्रेम और परहित साधन या सेवा है। आदमी को इन्हें अमल में लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिए।

**सत्व्यवहार ही भगवान की पूजा है**—हम सब भगवान की पूजा उपासना करने का दम भरते हैं। पर भगवान हमें दरिद्रनारायण के रूप में दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है कि एक धनवान के मरने पर अल्लाह उससे कहता है कि, 'ऐ आदमी के बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खाने को नहीं दिया।' आदमी पूछता है 'तूने मुझसे खाना कब मांगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है 'मैं मजदूर के रूप में तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमी के बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है 'कब तूने मुझ से पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' 'अल्लाह जवाब देता है कि मैं मेहनत करने के बाद प्यासा होने पर तेरे दरवाजे पर

गया और तुझ से पानी माँगा पर तूने मुझे पानी नही दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहार पर कितनी ठीक बैठती है।

**प्रेम मे अस्पृश्यता नहीं, ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है**—असली धर्म मानने वाले व्यक्ति के लिए यह सारा ससार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियो से प्रेम करेगा, उसके प्रेम का क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारो तक ही, या उसकी जाति बिरादरी के लोगो तक ही सीमित नही होता, वह सब मे ईश्वर का स्वरूप देखता है। वह सब से स्नेह का नाता रखता है, सब को अपने परिवार या कुटुम्ब का मानता है। उसके लिए छुआछूत का प्रश्न ही नही रहता, वह सब को समभाव से से देखता है, सब से प्रेम करता है, ऊँच-नीच की थोथी कल्पना को उसके मन मे स्थान नही मिल सकता। वह किसी को कष्ट दे ही कैसे सकता है, उसके लिए दूसरो को पीडा पहुँचाना स्वय अपने आप को पीडा पहुँचाना है। वह किसी के मजहब की निन्दा नही करता, वह सब मे समदृष्टि रखता है, और सब की अच्छी-अच्छी बाते ग्रहण करने को तैयार रहता है।

**सेवामय जीवन**—ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणी-मात्र मे एकता अनुभव करता है। और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधन का मार्ग लोकसेवा है। यही प्रेम का व्यवहारिक स्वरूप है। हमारा किसी को प्रेम करने का अर्थ यही नही है कि हम उसके लिए कुछ मीठे शब्द कह कर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्र का हित चाहे और हित-साधन का प्रयत्न करे, उसके कष्टो और अभावो को दूर करने का उपाय निकाले और उसकी उन्नति तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करे। धर्म-भावना वाले अपने कर्तव्य-पालन मे सब-प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं, और वे इसमे कोई दुख अनुभव नही करते। उनके हृदय मे सब के लिए माता का सा प्रेम होता है। वे अपने पास के सब आदमियों को सुख पहुँचाने मे अपना सुख मानते

हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिए उन्हे विशेष प्रयत्न करना नही पडता।

**सेवा के अनेक क्षेत्र**—सेवा किसी खास प्रकार के नपे-तुले काम का नाम नही है, और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम चाहे जो कार्य करे, उसमे परहित का लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिन्सा आदि गुणो के अभ्यास का निरतर ध्यान रखे तो वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा। उदाहरण के लिए व्यपार की बात लीजिए। प्राय. आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता। इसे धन कमाने का साधन माना जाता है। परन्तु वास्तव मे यह बहुत बडी सेवा का कार्य है। एक गॉव मे लोगो के भोजन वस्त्र आदि की प्रमुख आवश्यकता के किसी पदार्थ की कमी के कारण बहुत सकट है व्यापारी इस पदार्थ को दूसरे स्थान से लाकर वहॉ पहुँचाता है, और इसकी मूल लागत मे, मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड कर इसे साधारण मूल्य मे जनता के हाथो बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है। हॉ, अगर व्यापारी का लक्ष्य अपने कार्य द्वारा अधिक से अधिक धन बटोरना हो, वह लोगों की प्रमुख आवश्यकताओ का विचार न कर ऐसे पदार्थों का प्रचार करता है जो जनता के भोग विलास के साधन हो, और जिन्हे खरीदने के लिए आदमी भारी मूल्य भी देने को तैयार हो, या तैयार किये जाते हो तो यह कार्य सेवा-कार्य नही माना जा सकता। वास्तव मे इसे व्यापार कहना ही भूल है। यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाज मे खूब चल रही हो और कानून से अपराध न मानी जाती हो। अस्तु, परहित का ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना ले कर किया हुआ व्यापार सेवा ही है। वास्तविक व्यापार और सेवा मे कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पडे, वह जनता मे स्वास्थ्य के नियमो का प्रचार

करता है, और उन्हे सावधान करता है कि अमुक ऋतु मे ऐसा खान-दान आदि करना रोगों को आमन्त्रित करना है, वह बीमारो को जल्दी से जल्दी तथा अल्प व्यय से ही निरोग करने के लिए चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाह के लिए लोगो से अपने काम की साधारण फीस क्यो न लेता हो। इसके विपरीत, यदि वह धन-सग्रह के लिए रोगियो को दवाई के चक्कर मे डालता है, महगी और खूब मुनाफा देने वाली विधियों का उपयोग करता है, यहाँ तक कि गरीब और असमर्थ लोगो से भी भारी-भारी फीस वसूल करता है, और रोगियो के स्वस्थ न होने तथा मर जाने पर भी अपनी फीस का अधिकार नही छोडता तो इस कार्य को सेवा-कार्य नही माना जायगा, और इसे करने वाले को वास्तव में डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दो का दुरुपयोग करना है।

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दुकानदार आदि के कार्यों का विचार किया जा सकता है।

**विशेष वक्तव्य**—किसी कार्य के सेवा-कार्य होने के लिए यह आवश्यक ही है कि वह निरहकार तथा निष्काम भाव से किया जाय। सेवा करने वाला अपना काम कर्तव्य समझ कर करता है। उसके मन मे यह विचार नही आता कि मै समाज पर कोई उपकार या एहसान करता हूँ। वह अपने आपको समाज का एक अग मानता है, और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदि को समाज द्वारा प्राप्त समझता है। इसलिए वह समाज का हिस्सा चुका कर उससे यथा-शक्ति उऋण होने का प्रयत्न करता है, इसमे अहकार या अभिमान की गुजाइश ही कहाँ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तव मे धर्मात्मा हैं।

---

सातवाँ अध्याय

# मनुष्य मनुष्य है, क्रय-विक्रय की चीज़ नहीं

मजदूरी उत्पादन के परिमाण पर नहीं, मनुष्य की आवश्यकता पर आधारित होनी चाहिए। कीमतों के जरिये हम खेती-किसानी करने वाले लोगों का जीवन सत्व ही खींच लेते हैं। आज सारे अर्थ-व्यवसाय का आधार अन्याय बन गया है, हमें इसे बदलना होगा।

—जो० कॉ० कुमारप्पा

**गुलामी अमानुषिक थी**—एक जमाना था, जब गुलामी की प्रथा प्रचलित थी, कुछ देशों में तो जगह-जगह आदमियों, औरतों और बच्चों की मडी लगती थी, जैसे भेड-बकरियों की हाट लगती है। मनुष्यों की खुले-आम खरीद-बेच होती थी। बिका हुआ आदमी खरीददार का गुलाम होता था। मालिक अपने गुलाम से चाहे जैसा बर्ताव कर सकता था, वह उससे कठोर से कठोर काम ले सकता था। उसे मार-पीट सकता था, और तरह-तरह के कष्ट पहुँचा सकता था। इसमें किसी को कुछ कहने सुनने का अधिकार न था, यह कानून से जायज माना जाता था। कितना अमानुषिक व्यवहार था वह!

**आजकल की मजदूर-प्रथा भी मानवीय भावना रहित है**—वह जमाना बीत गया। हम उसे पीछे छोड आये, और बहुत आगे बढ आये हैं। हम अपने आपको बहुत सभ्य समझते हैं। पर क्या हमारे जीवन में जो मजदूर-प्रथा चल रही है, वह मानवीय भावना रहित नहीं है? हम मानव श्रम को एक वस्तु की तरह ख

हमारी दी हुई कीमत के पैसो से मजदूर का पेट भरता है या नही, इसकी हमे चिन्ता नही होती। मजदूर के आश्रित स्त्री-बच्चो की बात हम नही सोचते। हम कह सकते हैं कि मजदूर ने अपनी इच्छा से हमारा काम करना स्वीकार किया। उसने स्वतन्त्रता-पूर्वक हमसे मजदूरी तय की। परन्तु वर्तमान अर्थव्यवस्था मे उसकी वह स्वतन्त्रता किस काम की, जब वह इतनी अल्प मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर होता है, जिससे उसका निर्वाह नही हो सकता! उस बेचारे के पास हमारी दी हुई मजदूरी स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नही। वह बेकार है, और कही उसे दूसरा इससे अधिक मजदूरी देने वाला काम पाने की आशा नही, इसलिए वह यदि हमारा काम करना स्वीकार न करे तो इन थोडे से पैसो से भी वञ्चित रह जाय। इसलिए मजदूर पूरा भूखा और आधा भूखा रहने की दो बुराइयो मे से आधा भूखा रहने की कम बुराई का स्वागत करता है। पिछले जमाने मे गुलामों के मालिक यह तो सोच लेते थे कि अगर गुलाम को पेट भर भोजन न मिलेगा तो उसके मरने की आशका होगी, और एक मजदूर के मर जाने से मालिक उतनी पूँजी डूब जायगी। अब मजदूरो से काम लेने वाले को इस तरह की चिन्ता करने की जरूरत नही रहती, उसके दिये पैसो से मजदूर और उसके परिवार का निर्वाह हो या न हो, मालिक की बला से! उसने 'स्वतत्र' समझौते के अनुसार मजदूरी चुका दी। कानून की माँग पूरी कर दी। बस, और कुछ करने-धरने की बात ही क्या रही! अस्तु इस समय मजदूरी देने मे मानवता की भावना नही रहती।

**मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यकता**—आवश्यकता इस बात को ध्यान मे रखने की है कि मनुष्य मनुष्य है, वह क्रय-विक्रय की वस्तु नही। इसलिए मजदूरी का आधार उत्पादन का परिमाण नही होना चाहिए, वरन् मनुष्य की आवश्यकता होनी चाहिए अर्थात्

मजदूर को इतनी मजदूरी मिलनी चाहिए कि उससे उसका निर्वाह अच्छी तरह हो सके, वह अच्छा जीवन बिता सके। इसके साथ उसके काम करने के लिए वातावरण भी अनुकूल होना चाहिए। पर आजकल यह बात बिलकुल भुला दी जाती है। हम बाजार में फल तरकारी आदि खरीदने जाते हैं तो मांगी हुई कीमत को यथा-सम्भव कम करने की कोशिश करते हैं। हमें सोचना चाहिए कि फल या तरकारी वाले को इसमें कितना श्रम करना पड़ा होगा और जो कीमत हम दे रहे हैं उससे उसका निर्वाह कहाँ तक अच्छी तरह हो सकेगा।

**सामाजिक न्याय और कीमतें**—इस दृष्टि से विचार करें तो खेती से पैदा होने वाले पदार्थों की कीमत तथा शरीर-श्रम करने वालों की मजदूरी काफी ऊँची उठनी चाहिए। अभी तो सारा आर्थिक व्यवहार बड़ा अनीतिमय चल रहा है। हम सब अन्याय करते हैं और इसे करने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम कभी यही नहीं सोचते कि हम कुछ अनुचित कार्य कर रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि जो भाई वास्तव में समाज में अन्नदाता या उत्पादक है, उनकी दशा शोचनीय है। किसान और मजदूरों द्वारा ही राष्ट्र का पालन-पोषण होता है और वे ही भूखे नंगे रहते हैं। यह स्थिति बदलनी होगी।

जैसा श्री कुमारप्पा ने कहा है, कल्पना कीजिए कि एक खजूर का रस निकालने वाले को अपने सतुलित आहार, स्वास्थ्यप्रद मकान आदि के लिए आज की कीमतों के अनुसार १५०) रु० प्रति माह की आवश्यकता है तो जितना रस वह ईमानदारी और होशियारी से एक माह में निकाल सके उसके लिए उसे १५०) रु० प्रति माह मिलना चाहिए। हो सकता है कि इसके लिए हमें गुड़ की कीमत आज की बनिस्बत ज्यादा ऊँची रखनी पड़े। यदि हमारा उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है तो ऊँची कीमतों से डरना नहीं चाहिए।

**स्थानीय खरीद की विशेषता**—ऊपर बताये हुए सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक देश मे आदमी अधिक से अधिक ऐसी चीजो को खरीदे जो उनके आसपास रहने वाले लोगो ने पैदा की हो या बनायी हो। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात हो सकेगा कि उत्पादको या श्रमियो की स्थिति कैसी है, उनके जीवन-निर्वाह की आवश्यकता क्या या कितनी है, और कोई उनका शोषण तो नही कर रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमे विदेशी माल तो यथा-सम्भव बिलकुल ही नही खरीदना चाहिए। क्योकि हम नही जान सकते कि वहॉ के श्रमजीवियो को कैसी परिस्थितियो मे काम करना होता है और वहॉ मानवीय मूल्यो की स्थापना कितने अश मे है। इसके अतिरिक्त हमे अपने देश की मिलो का माल भी, बहुत ही अनिवार्य होने की दशा को छोड कर, नही खरीदना चाहिए, क्योकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि यद्यपि मिलो मे काम करने वाले मजदूरो को अन्य मजदूरो की अपेक्षा कुछ अधिक वेतन मिलता है, इनके द्वारा बहुत से मजदूरो का काम छिन जाता है। यदि उन सब का विचार करें तो मिलों मे दिया जाने वाला वेतन अन्य मजदूरो के वेतन से बहुत कम ही बैठता है। फिर मिलो और कारखानो मे होने वाली आय का अधिकाश भाग इनके मालिको को मिलता है, या इने गिने उच्च कर्मचारियो के वेतन आदि मे खर्च होता है, और शेष बहुत थोडा सा हिस्सा हजारो मजदूरो मे बॅटता है। इससे घोर आर्थिक विषमता होती है, देश मे जो बेकारी फैलती है, उसका तो कहना ही क्या! निदान, जहॉ तक भी सम्भव हो, हमे अपने रोजमर्रा की बुनियादी जरूरतो की चीजे अपने गॉव या नगर के किसानों या कारीगरो आदि से खरीदनी चाहिए, जिनके समूह के लोगो से हम नित्य सम्पर्क मे आते हैं, जिनके रहनसहन, आवश्यकताओ आदि का हमे सहज ही ज्ञान होता रहता है।

**व्यवहार का विषय मानव आत्मा है**—यहाँ हमें स्थानीय क्रय-विक्रय की एक खास विशेषता की ओर ध्यान दिलाना है। दूर दूर की चीजों के व्यापार में मूल्य-प्रणाली या पैसे की अर्थ व्यवस्था चलती है। आदमी वस्तु लेते हैं, कीमत चुका देते हैं। बस, वस्तु लेने वाले और देने वाले का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता। अनेक दशाओं में वर्षों व्यवहार चलते रहने पर भी वे एक दूसरे को नाम से ही जानते हैं, और कभी-कभी तो दुकान या फर्म का ही नाम जान पाते हैं। उन्हें एक-दूसरे से मिलने का अवसर नहीं आता। मानवीय सम्बन्ध तो स्थानीय क्रय-विक्रय से ही होता है। जैसे कि श्री जो० का० कुमारप्पा ने पुरी के सर्वोदय सम्मेलन में कहा था, 'हमें याद रखना चाहिए कि हमारे व्यवहार के विषय सिर्फ वस्तुएँ ही नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्मा है। अगर हम इस बात को समझलें तो फिर ने हम में मानवीय सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे और हम अपने आप को मानव बन्धुओं के अनुरूप बना सकेंगे।'

---

## आठवां अध्याय

# समाज धन-निष्ठ नहीं, श्रम-निष्ठ

यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करे तो ऊच-नीच का भेद दूर हो जाय, फिर जो धनी वर्ग रह जायगा, वह अपने को मालिक न मान कर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा? उसका उपयोग केवल लोक-सेवा के लिए करेगा।

—गांधी जी

आज की रुपये की आर्थिक व्यवस्था मनुष्य को अन्धा बनाकर उसे असत्य, शोषण, और हिसा की ओर ले जाती है, तथा भूठ फरेब और ठगाई का बाजार गर्म करती है।

—जो० का० कुमारप्पा

धन-निष्ठ समाज मे अनावश्यक और हानिकारक उत्पादन—पहले समाज श्रमनिष्ठ था। आदमी को जिस चीज की जरूरत होती थी, उसके लिए वह श्रम करता था। यदि कोई काम वह स्वय नही कर सकता और उसे दूसरे से कराना होता था, तो वह उसके श्रम का बदला भी श्रम मे ही चुका देता था। हजारो वर्ष ऐसा होता रहा, अब भी इसकी याद दिलाने वाले प्रमाण मौजूद हैं, यद्यपि वे लुप्त होते जा रहे हैं। अब आदमी जो श्रम करता है, उसका तोल माप पैसे मे होने लगा है। इससे आदमी ऐसा ही काम करता है, जिससे उसे धन अधिक मिले, चाहे वह काम लोकहित की दृष्टि से कम आवश्यक ही नही, अनावश्यक और हानिकर भी क्यो न हो। उदाहरण लीजिए। पैसे के चक्र मे पडा हुआ किसान हिसाब लगा कर देखता है कि किस

वस्तु के उत्पादन से उसे अधिक पैसा मिलेगा और अगर उसे मालूम होता है कि अन्न या कपास की अपेक्षा तमाखू, नारियल या गन्ने आदि की फसल से अधिक प्राप्ति होगी तो वह इन वस्तुओं के उत्पादन में लग जाता है। इसी प्रकार जब वह देखता है कि मिलों में काम आने वाले या विदेशों को भेजने वाले किसी कच्चे पदार्थ से उसे अपेक्षाकृत अधिक आय होगी तो वह ग्रामोद्योगों की उपेक्षा कर सहज ही उन वस्तुओं की पैदावार बढ़ाने में अपनी शक्ति लगा देगा। इसका नतीजा यह होता है कि गाँव में जीवन-रक्षक पदार्थों की कमी होती है, ग्रामोद्योगों का ह्रास होता है, बेरोजगारी बढ़ती है, सर्वसाधारण को कष्ट पहुँचता है तथा विलासिता या शौकीनी के पदार्थों का उत्पादन बढ़ता है। ये पदार्थ थोड़े से ऊपरी वर्ग के लोगों की माँग पूरी करते हैं। कुछ अश में मध्यम श्रेणी के तथा गरीब आदमी भी इन्हें खरीदते हैं, पर इससे उन्हें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

**समुद्र में भी मीन प्यासी**—धन-निष्ठ समाज में ऐसे उदाहरणों का मिलना साधारण बात है, जब अन्नदाता कहे जाने वाले आदमी स्वय अपने द्वारा उत्पन्न पदार्थों के उपयोग के लिए तरसते रहें। धन-निष्ठा के कारण किसान बढ़िया अन्न बिक्री के लिए रखता है, वह स्वय तथा उसके बाल-बच्चे घटिया अन्नों पर गुजर बसर करते हैं, और वे घटिया अन्न भी कभी-कभी उन्हें काफी परिमाण में नहीं मिल पाते। अनेक माली अपने अच्छे फलों को बिकने के लिए बाजार भेज देते हैं, उनके घर वालों को खराब या कटे फटे फलों में सतोष करना पड़ता है। शहद इकट्ठा करने वालों में बहुत सों के बालकों को कभी शहद खाने का मौका नहीं आता। धन-निष्ठ समाज में सब चीजें उनके लिए होती हैं जिनके पास पैसा होता है, चाहे वह पैसा बिना श्रम ही सग्रह किया गया हो।

**पैसे वाले बिना श्रम किये ही मौज उड़ाते है**—ऊपर, बिना श्रम के पैसा सग्रह करने की बात कही गयी है। इसको जरा स्पष्ट कर दिया जाय। पैसे मे एक बडा गुण (दुर्गुण?) यह है कि वह स्वय अपने को बेहद बढा सकता है। 'रुपये वाले को पैसा' कहावत सर्वथा सत्य है। जिसके पास एक बार पैसा हो जाता है, वह फिर पैसे से और बहुत सा पैसा पैदा कर सकता है। उदाहरण के लिए वह आज की व्यवस्था मे दूसरो को उधार देकर व्याज ही व्याज मे बहुत धन कमा लेते है। कुछ लोग पैसा इमारतो मे लगा देते हैं, फिर जन्म भर किराये की आमदनी पर मौज उठाते हैं यही नही, अपने उत्तराधिकारियो के लिए भी खाली बैठे मौज उडाने का साधन छोड जाते हैं। आज कल कितने ही आदमी तागे या रिक्शा रखकर उन्हे किराये पर उठा देते है। किसी के पास पचास-पचास रिक्शा होती हैं। वह एक-एक रिक्शा चालक से रोजाना डेढ-दो रुपये लेता है। इस प्रकार प्रति दिन सौ-पौन-सौ रुपये की प्राप्ति हो जाती है, इसमे से कुछ रिक्शाओ के मरम्मत आदि मे खर्च हो जाने पर भी मालिक को बिना कुछ हाथ पाव हिलाये खूब ठाठ की बचत होती है।

**पैसे वाला दूसरो की मेहनत से फायदा उठाता है**—धननिष्ठ समाज की एक और अनीति देखिये। पैसे वाला दूसरो की मेहनत खरीद कर उससे बेहद लाभ उठा सकता है। धनी आदमी मजदूरो से खेती कराते हैं और कारखानो मे सामान तैयार कराते हैं। वे मजदूरो को साधारण बाजार दर से मजदूरी देकर स्वय सब पैदावार के मालिक होते हैं। मजदूरो का अपनी मजदूरी से मामूली निर्वाह होता है, और अनेक दशाओ मे वह भी नही होता, दूसरी ओर धनवानो के यहाँ तो सचित धन का परिमाण निरन्तर बढता रहता है। इस जमाने मे भाप, गैस, बिजली आदि शक्ति का उपयोग करने वाले यत्रो का आविष्कार और प्रचार होने से अब एक-एक कारखाने मे हजारो

मजदूरों से लिया जा सकता है। इससे कारखाने वालों के लखपति, करोड़पति या अरबपति आदि होने के अवसर खूब बढ़ गये हैं और उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं।

नैतिक पतन--धन-निष्ठ समाज में धनवान का आदर मान होता है, उसकी तुलना में विद्वान, सदाचारी, संयमी और सेवाभावी व्यक्ति की कुछ पूछ नहीं होती। इसलिए हरेक आदमी जैसे भी हो, धनवान बनने का प्रयत्न करता है। वह पैसे के चक्र में पड़ा रहता है। वह किसी काम का उसकी उपयोगिता की दृष्टि से विचार नहीं करता, वह तो उसका मूल्य पैसे में आंकता है। वह आज एक संस्था में काम करता है, कल दूसरी संस्था में अधिक आमदनी का निश्चय होने पर वह झट उस दूसरी संस्था में काम करना स्वीकार करता है। उसका स्वयं का सिद्धान्त नहीं, जिस काम में ज्यादा पैसा मिले, उसे ही करने के लिए वह तैयार रहता है। अनेक आदमी पैसे के लोभ में अपना धर्म छोड़ते पाये जाते हैं। वास्तव में धन निष्ठ व्यक्ति का कोई धर्म या सिद्धांत नहीं, उसका पैसा ही धर्म, और पैसा ही सिद्धान्त है। जब आदमी धन जोड़ने लगता है तो वह दिनरात उसी की फिक्र में रहता है, दिन रात, सोते जागते वह 'निन्यानवे के फेर में' पड़ा रहता है। वह अनेक बार अपने स्वास्थ्य की भी अवहेलना करता है और पैसा पैदा करने की धुन में अपने आवश्यक विश्राम में भी कमी करता है और रात को बड़ी देर तक जागता रहता है, खाने का काम हो या सोने का, उसे शान्ति नहीं मिलती। इस प्रकार धन-निष्ठ समाज में लोगों का शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन बढ़ता जाता है।

घोर विषमता और अमानुषिकता—धननिष्ठ समाज में समानता और बंधुत्व की बात निरी कल्पना है। जब कि पैसे के बलपर आदमी दूसरे को खरीद सकता है, तो कुछ आदमी दूसरों को खरीदने की

क्षमता रखते हैं, और बहुत से आदमी बिकने के लिये तैयार रहते हैं; एक खरीददार होता है, दूसरा खरीद-बेच की वस्तु। ऐसी दशा मे विषमता और अमानुषिकता का क्या ठिकाना! 'पैसे के कारण हर जगह आदमियत की भावना लुप्त हो गयी है और लालच बढ़ गया है। लालच की इस वृत्ति ने सब मानवी मूल्यो को गिरा दिया है, बिना पैसे के लोग खरीदे जा सकने वाले चलते-फिरते मत्र बन गये हैं और पैसे वाले समाज को खा डालने वाले राक्षस[1]। जो आदमी दूसरो को खरीदने की क्षमता रखने के कारण अपने आप को कुछ बडा आदमी मानने का अभिमान करते हैं, वे भी एक प्रकार से पैसे के दास ही हैं, कारण, उन्हे अधिकाधिक पैसा प्राप्त करने की लालसा रहती है। यदि यह लालसा न हो तो वे अपने किसी भाई को खरीदने का अमानुषिक कर्म करने का विचार ही न करे।

**मानवता की रक्षा के लिए समाज को श्रमनिष्ठ होने की आवश्यकता**—इन बातो से स्पष्ट है कि मानव समाज का यदि उसकी मानवता की रक्षा अभीष्ट है—धननिष्ट होना सर्वथा अनुचित है। यदि मानवी मूल्यों की फिर से स्थापना करनी है तो समाज से पैसे की प्रभुता हटानी होगी। पैसे को जो उच्च स्थान, पद या प्रतिष्ठा दे दी गयी है, वह दूर करनी होगी। समाज को धननिष्ट की जगह श्रमनिष्ठ बनना होगा। आदमी की स्थिति या हैसियत पैसे के आधार पर न मान कर उस दृष्टि से सोची जायगी कि वह कितना श्रम करता है, और उसके श्रम से समाज का कितना हित होता है। शरीर-श्रम से काम करने वाले के पास अधिक धन का सग्रह होता ही नही है, जो आर्थिक विषमता और अमानुषिकता पैदा करने वाला है।।

**समाज के श्रमनिष्ठ होने से ही सच्चा स्वराज्य**—वास्तविक लोकतन्त्र या सच्चा स्वराज्य धननिष्ठ समाज मे सम्भव नही है, वह

[1] श्री एन० एस० शिवसुब्रह्मण्यन, 'ग्राम राज' १ जून ५३

तो श्रमनिष्ठ समाज में ही हो सकता है। जैसा कि धीरेन भाई ने कहा है, 'अगर जनता की आर्थिक जिन्दगी पूँजी पर आश्रित हो, तो जिसके कब्जे में पूँजी रहेगी, उसी के कब्जे में लोगों की जान रहेगी। अगर पूँजी पूँजीपति के हाथ में होगी तो वह एक वर्ग की तानाशाही होगी। और अगर उसका राष्ट्रीयकरण हो तो एक-दलीय तानाशाही प्रतिष्ठित होगी। तानाशाही चाहे जिस नमूने की हो, वह लोकशाही नहीं होगी, यानी वह स्वराज्य नहीं होगा। यही कारण है कि महात्मा गाँधी हमेशा विकेन्द्रित और स्वावलम्बी उद्योगों की बात करते थे। वे चाहते थे कि जनता के जीवन के मूल साधन पूँजी पर आश्रित न होकर श्रम पर आश्रित हों, यानी सारे उत्पादन के साधन उन्हीं के हाथ में रहें, जो उन साधनों पर स्वयं श्रम करते रहें।'[1]

समानता और बंधुत्व भी श्रमनिष्ठ समाज में ही सम्भव है—पहले कहा गया है कि धन-निष्ठ समाज में घोर विषमता और अमानुषिकता होती है। यदि हम इससे बचना चाहते हैं तो समाज को श्रमनिष्ठ बनाना अनिवार्य है। शरीर-श्रम से उत्पादन करने वालों में अन्तर बहुत परिमित ही होता है। एक आदमी दूसरे से कुछ अधिक उत्पादन कर सकता है, पर बीस-तीस या अधिक गुना नहीं। इसके विपरीत, धन-निष्ठ समाज में तो आदमी अपनी बुद्धि का उपयोग अपने स्वार्थ-साधन में लगा कर, तथा दूसरे आदमियों का श्रम खरीद कर औसत आदमी से कितने गुना कमायेगा, इसकी कोई सीमा ही नहीं। एक-एक धनवान पूँजीपति एक दिन में हजारों रुपये पैदा कर सकता है, और करता है, जबकि साधारण मजदूर को एक दिन में तीन चार रुपये या इससे भी कम मिलते हैं। फिर, श्रमनिष्ठ समाज में यदि दो श्रमियों की आय में कुछ अन्तर भी होता है, तो उनमें लोभ की वृत्ति न होने से वे उसके खर्च में लोकहित की भावना रखते

१ युग की महान चुनौती।

हैं, और उनकी बचत लोकसेवा के कार्य मे ही काम आती है। इस प्रकार उनके व्यवहार मे समानता और बधुत्व होना स्वाभाविक ही है।

विशेष वक्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए शरीर-श्रम को प्रतिष्ठा दे और उसे बौद्धिक श्रम से किसी प्रकार कम महत्व न दे, जहाँ तक सम्भव हो बौद्धिक श्रम को लोकसेवा मे लगाये, अथवा कम से कम उसे अपने स्वार्थ-साधन और दूसरो का शोषण करने मे तो कदापि न लगाये। गाधी जी ने कहा है 'किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियो मे धन का केन्द्रित हो जाना और लाखो का बेकार होना एक भयकर सामाजिक रोग है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए। आज श्रमजीवियों को अपनी प्रतिष्ठा पहचाननी चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा पहचानते ही धन अपने उचित स्थान पर आजायगा। धन से श्रम का मूल्य निश्चय ही अधिक है।'

———

## नवाँ अध्याय

# समाज में कोई भेदभाव नहीं

सत्य, दान, क्षमा, शील, नम्रता, तप और दया जिसमे भी मिले, वह ब्राह्मण है। यदि ये चिन्ह शूद्र मे हो और द्विज मे न हो तो वह शूद्र शूद्र नही, न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है।

—महाभारत

रग के पर्दे को अलग करके हमे अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा, न अनार्य, न यहूदी, न मगोल, न हब्शी। सब आदमी है, सब स्त्रियाँ है, सब की एक जाति है—मानव जा त

—हरदयाल

तुम देश का शासन कर सकते हो, मै पुराने जूतो की मरम्मत कर सकता हूँ। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि तुम मुझसे बडे हो, कारण तुम मेरे जूता की मरम्मत नही कर सकते। मै जूतो की मरम्मत करने मे कुशल हूँ, तुम वेदो को पढ और समझ सकते हो, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि तुम मेरे सिर पर पांव रखो।

—विवेकानन्द

वर्तमान समाज मे ऊँच-नीच या बडे-छोटे की भावना बहुत पायी जाती है, कही जाति-भेद या वश-भेद के कारण, कही रग-भेद के कारण, कही आर्थिक स्थिति की भिन्नता के कारण, कही धार्मिक विचारो के अन्तर के कारण और कहीं पेशो या पदो के जुदा-जुदा होने

के कारण। इनमे धार्मिक तथा आर्थिक कारणो से होने वाले भेद भाव का विचार अन्यत्र किया गया है, यहाँ जाति-भेद और रग-भेद का विचार करना है।

[ १ ]

## जाति-भेद

**जाति-भेद से अनिष्ट**—भारत मे जाति-भेद खासकर हिन्दुओ मे है। यह माना जाता है कि इसका मूल आधार आरम्भ मे श्रम-विभाग या गुण-कर्म था। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र के अलग अलग कर्म बताये गये हैं। पीछे इन चार जातियो मे गुण-कर्म की बात तो गौण पड गयी, जन्म या वश-परम्परा का विचार मुख्य हो गया। इस प्रकार अब ब्राह्मण का लडका ब्राह्मण ही माना जाता है, चाहे वह निरा निरक्षर हो, और मेहनत मजदूरी करके अपना निर्वाह करता हो। क्षत्रीय की सतान निर्बल और कायर होने पर भी क्षत्रीय, और वैश्य की सतान व्यापार की कुछ भी जानकारी न रखने पर भी वैश्य ही मानी जाती है। इसी प्रकार शूद्र की सन्तान विद्वान और शिक्षित होने पर भी शूद्र ही कही जाती है। इसके अलावा अब इनमे से प्रत्येक जाति के अनेक भेद हो गये हैं, यहाँ तक कि इनकी सख्या कई सौ ही नही, हजारो है।

जाति-भेद से अनर्थ यह हुआ कि बौद्धिक कार्य करने वालो को—पुरोहित, अध्यापक, महन्त, पुजारी, व्यापारी, महाजन (लेन-देन करने वाले) को—ऊचा, प्रतिष्ठित और आदरणीय मान लिया गया। इसके विपरीत, शरीर-श्रम करने वालों को—बढई, लुहार, दर्जी, कुम्हार, धोबी, नाई, चमार और मेहतर आदि को—नीच ठहरा दिया गया। इस प्रकार समाज अनेक टुकडों मे विभक्त हो गया, हाथ-पाँव न हिलाने वाले, बहुत-कुछ अरामतलबी और मुफ्तखोरी करने वालो को

प्रोत्साहन मिल गया और कठोर शरीर-श्रम का अनादर और अवहेलना हो गयी।

अस्पृश्यता का कलंक—यह सामाजिक भेद-भाव यहाँ तक बढ़ा कि लाखों नहीं, करोड़ों आदमियों को जन्म-जन्मांतर के लिए नीच और अछूत ठहरा दिया गया। वे कितना ही प्रयत्न करें, समाज में उनका पद नीचा ही रहने वाला ठहरा, उनके उत्थान का मार्ग बन्द कर दिया गया। आश्चर्य और दुख का विषय यह कि ऐसी 'व्यवस्था' को धर्म-ग्रन्थों में स्थान दे कर उसे स्थायी और अकाट्य ठहरा दिया गया।

अस्पृश्यता ने हिन्दुओं के दो जुदा-जुदा हिस्से कर दिये हैं, जिनका एक-दूसरे से खानपान, और विवाह-सम्बन्ध तो होता ही नहीं, आपस में मिल कर बैठने-उठने और सामाजिक कार्यों में भाग लेना भी नहीं बनता। जो हिन्दू समाज अपनी प्राचीनता, दार्शनिकता, सभ्यता और संस्कृति का इतना अभिमान करे, उसका अपने ही आदमियों से यह व्यवहार! अस्पृश्यता के रहते सर्वोदय की बात करना निरा उपहास है।

अस्पृश्यता-निवारण के प्रयत्न—समय-समय पर, एक-दूसरे के दुख को अपना समझने वाले साधु-महात्माओं ने इस हृदय-विदारक प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी, पर उनका प्रयत्न प्राय: उनके व्यक्तिगत आचरण तक ही सीमित रहा। खासकर पिछली शताब्दी के सुधारकों ने इसे समाज से हटाने की ओर ध्यान दिया। कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। विशेषतया गाँधी जी के प्रयत्न से अस्पृश्यता निवारण राष्ट्रीय कार्य-क्रम का एक अंग बना और भारत के स्वतंत्र हो जाने पर तो इस विषय का कानून भी बन गया। अब सार्वजनिक क्षेत्र में किसी व्यक्ति का दूसरे को अस्पृश्य मानना या इस आधार पर उससे किसी प्रकार हीनता-सूचक व्यवहार करना अपराध माना जाता है, और उसके लिए दण्ड निर्धारित है।

यह होते हुए भी, समाज से अस्पृश्यता हट गयी—यह नही कहा जा सकता। इसने लोगो के मन मे जड पकड रखी है। इसलिए लाचारी से जिस सीमा तक इसका विचार हटाना पडता है, वहाँ तक ही इसे हटा हुआ समझिये। पर जहाँ वश चलता है, अर्थात् अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना होता है, प्रायः अच्छे-अच्छे आदमी भी इसे चिपटाए हुए हैं। कोई अपने घर मे उन्हे नौकर रखना, उनके हाथ का छुआ भोजन करना या उनसे यथेष्ट सम्पर्क रखना नहीं चाहता। शहरों की अपेक्षा गाँवो मे, और पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों मे अस्पृश्यता की भावना बहुत गहरी है। इसलिए इन क्षेत्रो मे विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है।

**व्यावहारिक कठिनाइयाँ और उनका हल**—यह कहा जाता है कि अस्पृश्यता हट जाने पर मैला उठाने और नालियाँ साफ करने का काम कैसे होगा। यह कठिनाई बहुत भारी और असाध्य प्रतीत होती है, पर यदि यह निश्चय कर लिया जाय कि समाज को अस्पृश्यता के कलक से मुक्त करना है तो इसका हल निकल ही सकता है। कुछ बड़े शहरो मे फ्लश का तरीका काम मे लाया जाता है, जिससे मैला एक दम जमीन के नीचे-नीचे बह जाता है, कही-कही विशेष वैज्ञानिक पद्धति से ऐसे गड्ढे बनाये जाते हैं जिनमे कुछ दिन तक मैला इकट्ठा होकर खाद बनता जाता है, बदबू नही होती। एक गड्ढा भर जाने पर ऐसे दूसरे गडढे का उपयोग किया जाता है। शहरों में इन तरीको का व्यापक उपयोग किया जाना चाहिए। और जब तक कही इन्हे जारी न किया जा सके तब तक वहाँ सफाई का काम जितना सरल और सुविधाजनक हो सके उसका प्रयत्न तो किया ही जाना चाहिए। गाँवो और कस्बो मे खाई के पाखाने बनवाये जाय और लोगो को उनको इस्तेमाल करने की प्रेरणा दी जाय, जिससे गाँवो मे गन्दगी भी न रहे और खेती के लिए बढिया खाद काफी बड़े परिमाण मे बिना मूल्य मिलता रहे।

ऐसी ही एक समस्या मरे हुए जानवरों को उठाने, उनका चमडा, चर्बी और हड्डियाँ आदि अलग करने और चमडा रगने आदि की है। यह भी कोई असाध्य समस्या नहीं है। अभी देश मे ऐसी बातो का यथेष्ट विचार ही नही किया जाता। यह समझ लिया जाता है कि यह कार्य हरिजनों के करने का है और वे ही इसे करते रहेगे। यदि हम एक बार इस समस्या को तथा ऐसी अन्य समस्याओ को हल करने के लिए मानवीय उपायों को ही काम मे लाने की ठान ले तो वैसे उपाय अवश्य ही निकल आएँगे, इसमें सशय नहीं। आज कल विज्ञान से हम कितना काम ले रहे हैं। उसकी सहायता हमें इस दिशा मे लेनी चाहिए। उससे समाज को अनिष्टकारी प्रथा और बन्धनो से अवश्य मुक्ति मिलेगी।

**यथेष्ट दृष्टिकोण और योजना की आवश्यकता**—हमे सोचना चाहिए कि यदि कोई कार्य समाज के लिए किया जाना आवश्यक है तो उसके करने की पद्धति में यथेष्ट सुधार और सशोधन होता रहे। जो काम उपयोगी होने पर भी बहुत कठिन, अरुचिकर या जल्दी थका देने वाला हो, उसे करने की जिम्मेवारी किसी खास समूह पर न डाली जानी चाहिए, उसे सभी आदमी मिलजुल करे, जो आदमी उसे करे, उनका दूसरो को कृतज्ञ होना चाहिए, और इसके फल-स्वरूप उन्हे यथेष्ट आदर-मान और समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए, जिससे वह काम दूसरो के लिए भी आकर्षक हो। सर्वसाधारण की ऐसी दृष्टि होने से हरिजनो को दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुएँ सुलभ होंगी, वे अपनी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की ओर समुचित ध्यान दे सकेगे, और अन्त मे वे समाज का एक अलग हिस्सा न होकर सब मे मिले-जुले होंगे और भारतीय समाज की शक्ति और योग्यता बढाने वाले सिद्ध होंगे। निदान, यथेष्ट दृष्टिकोण और योजना होने से अस्पृश्यता की समस्या अवश्य ही समाप्त हो कर रहेगी।

[ २ ]

# रंग-भेद

**रग-भेद का करण, जलवायु**—ससार मे आदमियों का तरह तरह का रग देखने मे आता है। कुछ आदमियों का मुख्य रग तो एक ही है, पर उसकी गहराई में अन्तर है, उदाहरण के लिए कोई कुछ कम काला है, दूसरा उससे अधिक, और तीसरा दूसरे से भी अधिक, यहाँ तक कि एक आदमी का रग दूसरे से अलग पहचाना जाता है। यह तो एक ही रग वालो की बात हुई। इसके अलावा आदमियो के रग एक-दूसरे से बिलकुल जुदा भी है। कोई काला है, कोई पीला, कोई गोरा और कोई गेहुआ आदि। यह जो रग का अन्तर है, इसका मुख्य कारण उन मनुष्यो के निवास-स्थानो की जलवायु की भिन्नता है। एक प्रदेश के आदमी जब कई पीढियो तक उसी प्रदेश मे या उस जैसे जलवायु वाले प्रदेश मे रहते हैं तो उनका रग एक खास तरह का हो जाता है, और वह दूसरे जलवायु वाले प्रदेशो के आदमियो के रग से जुदा होता है।

**रग-भेद होते हुए भी मनुष्य जाति की एकता**—रगो का यह भेद सयोग से हो गया। कुछ मनुष्यो का निवास कई पीढियो तक, हजारो वर्ष, एक विशेष जलवायु वाले प्रदेश मे रहा, वे एक खास रग के हो गये। दूसरे आदमियो का निवास हजारो वर्ष दूसरे प्रकार के जलवायु वाले प्रदेश मे हुआ, वे दूसरे रग के हो गये। प्राकृतिक सयोग से होने वाली इस भिन्नता के धोखे मे आकर हमे यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य जाति वास्तव मे एक है। चाहे किसी भी रग के हो, सब आदमी एक ढग से पैदा होते हैं, एकसे वातावरण मे रहने पर सब एक ही प्रकार से बोलते हैं, सब मे थोडा-बहुत सोचने का गुण है, सब आदमी किसी न किसी प्रकार के समूह मे रहते हैं और

सामाजिक जीवन बिताते हैं, सब आदमी थोड़े बहुत विकसित या अविकसित औजारों से काम लेते हैं, सब को समान बातों से कम या ज्यादा सुख-दुख होता है, सब कुछ न कुछ भूतकाल की बातों का विचार करते हैं, सब की दृष्टि, थोड़ी या बहुत, भविष्य की ओर रहती है, सब में अपने-अपने ढंग से आत्म-रक्षा और संतान-वृद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त करने की भावना होती है, सब में काम, क्रोध, लोभ, मोह की और आहार निद्रा भय और मैथुन की प्रवृत्ति—वह चाहे जितनी कम और चाहे जितनी अधिक हो—होती है, तथा सब में प्रेम, सहानभूति, दया, सहयोग आदि गुण भी, बीज रूप से ही सही, होते अवश्य हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति की एकता से इनकार नहीं किया जा सकता।

**रंग-भेद का अभिमान विनाशकारी**—दुर्भाग्य से अनेक आदमियों ने इस सच्चाई की उपेक्षा की। उन्होंने एक खास रंग का होने के कारण अपने को दूसरे रंग वालों से श्रेष्ठ और ऊँचे दर्जे का मान लिया। इससे संसार में घोर अनिष्ट और अत्याचार हुआ है। गौरांग जातियों ने अपने उद्योग धंधों और व्यापार की उन्नति के लिए रंगदार जातियों से कैसा अमानवीय व्यवहार किया—अनेक स्थानों में उनकी सभ्यता, संस्कृति और आजादी को ही नष्ट नहीं किया, उन जातियों को ही पृथ्वी-तल से हटाने का आयोजन किया—यह इतिहास के पृष्ठों में अच्छी तरह अंकित है।* अब भी, गौरांग जातियों का अपनी श्रेष्ठता का अभिमान दूर नहीं हुआ है। सभ्यता का दम भरने वाले यूरोप और अमरीका में इसके अनेक प्रमाण आये दिन मिलते रहते हैं—अनेक होटलों में, सिनेमा और नाटकघरों आदि में, रंगदार आदमियों को 'अस्पृश्य' माना जाता है, उन्हें वहाँ इसलिए जगह नहीं दी जाती कि मैनेजरों को भय होता है कि ऐसा करने से गौरांग ग्राहक

*इस विषय पर हमारी 'विश्व-संघ की ओर' पुस्तक में विशेष प्रकाश डाला गया है।

नाराज हो जायेंगे। दक्षिण अफ्रीका मे तो भारतीयो तथा अफ्रीका के मूल निवासियों के प्रति गोराग जो व्यवहार करते हैं, वह ऐसी बडी विकट समस्या है कि उसके विश्वव्यापी रूप धारण करने की आशका है। इस प्रकार रग-भेद-नीति ससार मे जगह-जगह अशान्ति पैदा करती और बढाती है।

**हमारा लक्ष्य, सामाजिक समानता**—मानवता का तकाजा है कि आदमी जाति-भेद और रग-भेद आदि की भावना दूर करे। इसी तरह अन्य प्रकार की भी विषमताओ को हटा कर हमे समाज मे समानता लाना है। समानता का यह अर्थ नही कि आदमी अपने कार्य को छोडकर दूसरे ऐसे कामों को करने के लिए दौडे, जिन्हे करने की उसमे योग्यता या क्षमता नही है, उदाहरण के लिए एक भगी अपनी झाडू फेंककर राष्ट्रपति के आसन पर बैठे और आवश्यक कागजो पर हस्ताक्षर करने लग जाय। काम तो हर एक आदमी को अपना-अपना ही करना है। पर उनके कामो के जुदा-जुदा होने से उनके सामाजिक पद-मर्यादा में विशेष अन्तर न आना चाहिए। यह नही होना चाहिए कि सार्वजनिक कार्यक्रम मे राष्ट्रपति के लिए तो विशेष प्रकार के सिहासन की व्यवस्था हो, और कई आदमी उसकी शोभा बढाने के वास्ते चारों ओर खडे किये जायॅ, पर भगी को वहॉ बैठने को कोई जगह ही न दी जाय, या उसे दूर एक कोने मे खडा रहने को कहा जाय। यही बात किसी पूँजीपति, सेठ या साहूकार का और एक मजदूर का उदाहरण लेकर समझी जा सकती है। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को, जो अपना जीवन-यापन परिश्रम और ईमानदारी से, लोकहित की दृष्टि से, करता है, यथेष्ट आदर-मान मिलना चाहिए।

**विशेष वक्तव्य, आत्मीयता के विस्तार की आवश्यकता**—प्रत्येक पुरुष स्त्री को चाहिए कि वह गभीरता पूर्वक विचार करे कि मैं

एक मनुष्य हूँ और इस नाते दूसरे मनुष्यो से मेरी सहजातीयता है। मैं मनुष्य जाति का अग हूँ, विशाल मानव परिवार का सदस्य हूँ। मुझे सबसे प्रेम और सेवा का व्यवहार करना चाहिए। किसी व्यक्ति का रग, वश आर्थिक स्थिति या धार्मिक विचार आदि मुझसे भिन्न होने मात्र से वह मेरे विशाल परिवार से बाहर नही। हम सब पृथ्वी माता की सतान है, इसलिए आपस मे भाई बहिन है। जीवन का कोई न कोई तार मुझ मे और दूसरो मे समान रूप मे पिरोया हुआ है। मेरी शक्ति, बुद्धि और योग्यता का उपयोग मेरे स्वार्थ-साधन मे न होकर सब के हित मे, सर्वोदय मे होना चाहिए। फिर भेद-भाव की बात ही क्या!

———

## दूसरा खंड

# समाज-रचना की पद्धति

हमें मनुष्य का हृदय बदलना है, नये मानव का निर्माण करना है। यही क्रान्ति है। हृदय-परिवर्तन इसलिए सम्भव है कि हम सब एक हैं, एक ही परमात्मा के कण हैं। मनुष्य स्वभावत अच्छा है, बुरा नहीं। यदि वह बुरा होता, तो बुरे आदमी को ही पूजता, पर वह अच्छे को ही पूजता है और उसके सामने उसका सिर झुकता है।

सर्वोदय मे सब का भला होगा, सब सुखी होगे, ऊँच-नीच का भेद न होगा, न्याय होगा, शोषक न होगे और समता होगी। यह समाज ऐसा होगा, जिसमे सत्ता जनता के हाथ मे होगी और वही उसका सचालन करेगी। केन्द्रीय शासन या तो न होगा, या यदि होगा भी तो बहुत कम। जीवन से सम्बन्धित अधिकाश विषयो का शासन गाव के द्वारा होगा, उससे कम जिले के द्वारा, उससे भी कम प्रान्त के द्वारा, और सब से कम केन्द्र के द्वारा। सत्ता भी इसी मात्रा और क्रम से विभिन्न क्षेत्रो मे रहेगी। यह सब शोषण-विहीन समाज मे ही हो सकता है, ऐसे समाज मे, जिसमे केवल आर्थिक शोषण ही नहीं, बल्कि किसी तरह का शोषण न हो।

—जयप्रकाशनारायण

## दसवां अध्याय

# क्रान्ति का सही अर्थ

हमे सारा समाज ही बदलना है, और वह अहिंसक क्रान्ति के जरिए ही बदलना है।

—विनोबा

बदल गये आदर्श पुराने धर्म और जीवन के ,
बदल गये सिद्धान्त पुराने तर्क और दर्शन के ।
बदल गये आधार पुराने चिन्तन और मनन के ,
बदल गये अनुमान पुराने उन्नति और पतन के ॥

—निरकारदेव सेवक

इस खड मे हमे भावी समाज-रचना का विचार करना है। समाज-रचना का क्रान्ति से घनिष्ठ या अनिवार्य सम्बन्ध होने से यहाँ पहले क्रान्ति के विषय मे लिखा जाता है।

**क्रान्ति की बात**—ससार के विविध देशो मे समय-समय पर क्रान्ति की आवाज उठती है। पराधीन देशो मे राजनैतिक क्रान्ति की आवश्यकता समझी जाती है। जिन देशो की माली हालत गिरी हुई होती है, वहाँ आर्थिक क्रान्ति की माँग होती है। जब अन्ध-विश्वासो और कुरीतियो का बोलबाला होता है तो धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों की बात सामने आती है। भारतवर्ष स्वाधीन हो गया है, तथापि यहाँ विविध क्षेत्रो मे आमूल परिवर्तनो की जरूरत बनी हुई है। चहुँ ओर क्रान्ति की आवश्यकता है। आदमी अपने-अपने ढग से क्रान्ति की बात सोचते हैं। हम विचार करे कि क्रान्ति का साधारणतया क्या अर्थ लिया जाता है, और वास्तव मे इसका अर्थ क्या होता है।

**क्रान्ति का साधारण प्रचलित अर्थ**—साधारण व्यवहार में क्रान्ति का अर्थ बहुत बडी हिंसा अर्थात् खून-खराबी समझा जाता है, जिसका उद्देश्य आर्थिक या राजनैतिक परिवर्तन करना हो। जब किसी देश में ऐसी घटना होती है, तो कहा जाता है कि वहाँ बडी क्रान्ति हुई। उस घटना के सूत्रधारी को महान् क्रान्तिकारी माना जाता है। इस प्रकार आधुनिक युग की क्रांतियों के उदाहरण-स्वरूप फ्रांस की क्रांति जर्मनी की क्रांति, इटली की क्रांति तथा रूस की क्रान्ति है, जिनके प्रवर्तक नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और लैनिन थे। परन्तु यह क्रान्ति का बहुत सीमित अर्थ है वरन् कहना चाहिए कि यह भ्रमात्मक और त्रुटिपूर्ण अर्थ है। क्रान्ति के लिए हिंसक होना आवश्यक नहीं है, वह तो कुछ स्थायी और सफल ही तब होती है, जब उसका आधार अहिंसा हो। इसके अतिरिक्त क्रान्ति का उद्देश्य केवल आर्थिक या राजनैतिक न होकर सामाजिक, धार्मिक आदि भी हो सकता है।

**क्रान्ति का सही अर्थ**—वास्तव में क्रान्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो सकती है। क्रान्ति का सही अर्थ है, जीवन में मूल्यों का परिवर्तन। आज हम एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं, कुछ विशेष-विशेष व्यवहारों को अच्छा मानते हैं, उनमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। यदि कल इन बातों में परिवर्तन हो जाय, हमारे मूल्य-माप बदल जायँ, अच्छे बुरे, शोभनीय-अशोभनीय, सुन्दर-असुन्दर या कुरूप, महान्-तुच्छ, पुण्य-पाप, इष्ट-अनिष्ट की धारणाओं में दूसरा दृष्टिकोण हो जाय—तो इसका नाम क्रान्ति ही है, चाहे इसके लिए हिंसक अस्त्रों का कुछ भी उपयोग न हुआ हो, और सब प्रकार के रक्तपात से परहेज किया गया हो।

**गौतम बुद्ध का उदाहरण**—भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि गौतम बुद्ध के आगमन से पहले यहाँ मानसिक दासता के बन्धन दृढ हो गये थे, जाति-पाति का भेद बेहद बढ गया था। 'ऊँची'

जाति मे जन्म लेने वाले दुष्कर्म और दुराचार तथा भोग विलास करते हुए भी ऊँचे माने जाते थे, और 'नीची' जाति वाले सात्विक, परिश्रमशील और सेवामय जीवन बिताते हुए भी सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहते थे, वरन् तरह-तरह की ज्यादतियो के शिकार होते रहते थे। यज्ञो मे पशु-बलि विकराल और वीभत्स रूप मे होती थी, अधिक से अधिक पशुओ को मौत के घाट उतारना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। ऐसी परिस्थिति मे गौतम बुद्ध ने जनता को यह सदेश दिया कि जाति-पाति से कोई ऊँच-नीच नही, ये कृत्रिम भेद-भाव मान्य नही। ऊँचा बनने के लिए मनुष्य का कार्य ऊँचे दर्जे का होना चाहिए, हमारे जीवन मे सचाई, पवित्रता और दया-भाव होना चाहिए। भोले-भाले जीव भी हमारी दया और प्रेम के अधिकारी हैं। अपने स्वार्थ या स्वाद के लिए पशु-पक्षियो की हत्या करना अनुचित है। धर्म के नाम पर भी बलि या कुर्बानी करना ठीक नही। जिन यज्ञो मे हिसा होती है, वे धर्म के कार्य न हो कर अधर्म के कार्य हैं। जनता ने इस महान् सदेश को सुना, लोगो का दृष्टिकोण और जीवन-व्यवहार बदला। यह उस समय की महान् क्रान्ति थी—ऐसी क्रान्ति जो हजारो वर्षों बाद देखने मे आयी। और, यह क्रान्ति अहिसक थी, इस क्रान्ति ने तो जनता को यह वाक्य ही दिया—'अहिसा परमो धर्म.।'

**हमारे युग की महान् क्रान्ति, गाँधी जी की देन**—समय-समय पर ससार के विविध देशो मे छोटी-बडी अनेक क्रान्तियाँ होती रही हैं। भारत ने भी समयानुसार विविध क्रान्तियाँ देखी। स्वय हमारे जीवन-काल मे महान् क्रान्ति—जीवन के मूल्यो का परिवर्तन—हुई है, उसके सूत्रधार गाँधी जी थे। उनके सामने अनेक कार्य थे। पर उन्हे विशेष ध्यान भारत की राजनैतिक स्वाधीनता की ओर देना पडा, जिससे देशोद्धार मे उपस्थित अन्य बाधाओ को दूर करने का मार्ग

प्रशस्त हो। ऐसे कार्य के लिए हिंसा उचित ही नहीं, अनिवार्य मानी जाती रही है। विदेशी आक्रमणकारियों या शासकों से हिंसक युद्ध ठानना साधारण नीति रही है। गाँधी जी ने नयी विचारधारा उपस्थित की। उन्होंने बताया कि स्वाधीनता-प्राप्ति एक शुभ कार्य है तो इसके लिए काम में लाये जाने वाले साधन शुभ ही होने चाहिए, हिंसा को उसमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। यह बात विचित्र और अविश्वसनीय मालूम होती थी। परन्तु गाँधी जी दृढ़ रहे और सत्य तथा अहिंसा के जिन गुणों का उपयोग मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखते थे, उनका उपयोग सामूहिक या राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति में उन्होंने कर दिखाया।

गाँधी जी ने भारतीय जीवन के कितने ही भागों में पुराने विचार बदलने और नये मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न किया—(१) अस्पृश्यता कोई धर्म का लक्षण न हो कर महापाप है, उसे दूर करना आवश्यक है, (२) किसी मनुष्य का किसी सम्पत्ति को अपनी मिल्कियत मानना गलत है। वह केवल उसका संरक्षक रह सकता है। उसे चाहिए कि सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए ही करे, (३) शरीर-श्रम की यथेष्ट प्रतिष्ठा रहे, आदमी को अपने निर्वाह के लिए शरीर-श्रम करना चाहिए, बौद्धिक श्रम का उपयोग लोक-सेवा में हो, शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम में विषमता-सूचक खाई न हो, (४) मशीन और यन्त्रों का उपयोग केवल विशेष और अनिवार्य दशाओं में ही हो, वे मनुष्य के नियन्त्रण में रहें, ऐसा न हो कि वे मनुष्य पर हावी हो जायँ, और उनका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए हो। (५) आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य मनुष्य का हित हो, उत्पादन नहीं सब व्यक्तियों को काम मिले और समाज में समानता हो, इस दृष्टि से ग्रामोद्योगों को प्रमुख स्थान दिया जाय, (६) सभ्यता की कसौटी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि नहीं, संयम और सेवा है, इत्यादि।

**विशेष वक्तव्य**—इन विविध उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए गॉधी जी ने अहिंसा का आग्रह रखा। पूँजीवाद को बुरा मानते हुए भी उन्होंने पूँजीपतियों के प्रति किसी प्रकार की हिंसक भावना न रखी। देश मे कितने ही व्यक्तियों का मत होता है कि पूँजीपतियो को समाप्त कर दिया जाय, यदि वे अपनी पूँजी पर से प्रसन्नतापूर्वक अपना अधिकार नही हटाते तो उन्हे मौत के घाट उतारा जाय या आजीवन जेल मे डाल दिया जाय। परन्तु गॉधी जी ने समझाया कि ऐसा करने से पूँजीवाद का अन्त न होगा, वर्तमान पूँजीपतियो की जगह दूसरे पूँजीपति आ जायँगे और पूँजीवाद की परम्परा को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे, भले ही वे उसे नया रूप दे दे। पूँजीवाद का अन्त करने के लिए हमे लोगो के मन मे यह धारणा बैठानी है कि पूँजी समाज के सहयोग बिना उपार्जित नही होती, इसलिए उसका उपयोग समाज के हित मे ही किया जाना चाहिए। जो आदमी अपनी आवश्यकता (जिसका निर्णय समाज की तत्कालीन परिस्थिति का विचार करके होना चाहिए) से अधिक द्रव्य रखता और उसका अपने लिए उपयोग करता है, वह समाज की दृष्टि मे चोर समझा जाना चाहिए, उसे प्रतिष्ठा न मिल कर अप्रतिष्ठा ही मिलनी चाहिए।

जीवन-मूल्यो मे इस प्रकार का परिवर्तन होना ही वास्तविक क्रान्ति है। अहिंसा द्वारा यह कार्य धीरे-धीरे होता है तथापि यह धैर्य-पूर्वक किया जाना चाहिए। हिंसा द्वारा हम जल्दी क्रान्ति कर सकते हैं—यह धारणा गलत है, उसकी दिखायी देने वाली क्षणिक सफलता के धोखे मे न आना चाहिए।

---

## ग्यारहवां अध्याय

# क्रान्ति हिंसा से नहीं, अहिंसा से

क्रान्ति पहले दिलो मे होती है, फिर समाज मे। जहाँ दिलो मे क्रान्ति नहीं होती, बल्कि क्रान्ति लादी जाती है और हिसा से क्रान्ति होती है, वहाँ वास्तव मे क्रान्ति होती ही नही।

—विनोबा

क्रान्ति जनता द्वारा होती है, न कि सरकारो द्वारा। सरकारे तो जनता का अनुकरण करती हैं और जनता जो कुछ करती है, उस पर अपनी मोहर लगाती है।

—जयप्रकाशनारायण

समाज अथवा आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन का कोई कम समय का राह नही है और मनुष्य को एक दिन मे देवदूत नहीं बनाया जा सकता। उसके वर्तमान जीवन की आदते, उसके सोचने-विचारने के ढग काफी जड जमा चुके है। उन्हे तुरन्त उखाडना सम्भव नही। इसलिए वर्तमान समाज का रूपान्तर भी क्रमिक होगा—धीमे, लेकिन प्रगतिगामी परिवर्तन के प्राकृतिक नियम के अनुसार।

—एडमाड जेकेली

आजादी के बाद भी क्रान्ति की आवश्यकता—कुछ लोग समझते है कि किसी देश के स्वाधीन हो जाने पर उसे क्रान्ति की जरूरत नही रहती। यह समझ ठीक नही। उदाहरण के लिए भारत की बात ले। यहाँ स्वाधीनता-आन्दोलन मे हमने नारा लगाया था, 'इन्कलाब

जिन्दाबाद' अर्थात् क्रान्ति चिरायु हो। क्या आजादी के बाद उस नारे की जरूरत नही रही? वास्तव मे आजादी और क्रान्ति एक बात नही है। आजादी तो एक साधन मात्र है, उससे केवल यह होता है कि देश की उन्नति के मार्ग की बाधाऍ दूर हो जायॅ। आर्थिक, सामाजिक था सास्कृतिक उन्नति का कार्य तो बाकी ही रहता है, और इनके लिए क्रान्ति करने की जरूरत बनी रहती है। क्रान्ति का अर्थ है जीवन के मूल्यो मे मूल परिवर्तन। इस दृष्टि से हमारे यहॉ तो राजनैतिक क्षेत्र मे भी क्रान्ति नहीं हुई। हमारी राजनैतिक सस्थाऍ भारी-भरकम खर्च और भ्रष्टाचार पर आधारित निर्वाचन पद्धति, अनैतिक दलबन्दी पर आधारित बहुमत दल का शासन, पुलिस और फौज सम्बन्धी हमारी मान्यताऍ—सब वैसा ही है, जैसा हमे अॅगरेजो से विरासत मे मिला था। हमारी अर्थव्यवस्था, शिक्षा प्रणाली तथा चिकित्सा पद्धति मे कोई मौलिक अन्तर नही। जिधर देखो, नया निर्माण करना है, नयी मान्यताऍ स्थापित करनी हैं, हर बात मे क्रान्ति की आवश्यकता है।

**हिंसक उपायो की असफलता**—क्रान्ति के लिए अनेक बार हिसक साधनो का उपयोग किया गया। उस समय तो ऐसा मालूम हुआ कि जल्दी ही उद्देश्य सिद्ध हो गया, सफलता प्राप्त कर ली गयी, पर पीछे स्पष्ट हुआ कि ऐसा समझना भूल थी, वह सफलता क्षणिक ही रही। यही नही, जिन लोगो ने जनता के हित के नाम पर हिसाकाड मे नेतृत्व किया था, वे ही विजयी होने पर जनता के पीडक और भक्षक बन बैठे। फ्रास की अठारहवीं सदी की क्रान्ति इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। जनता ने अत्याचारी शासको से अपना पिंड छुडाने के लिए नेपोलियन के नेतृत्व मे खूब खून बहाया। विजय हुई, पर वह विजय नेपोलियन और उसके सेनापतियो की विजय थी, जनता की नही। जनता को पीछे राजवश की नही, 'तो नेपोलियन के आदमियो

की ज्यादतियों का शिकार होना पडा। हिंसा मे समस्या का रूप भले ही बदले, समस्या हल नहीं होती, वह बनी ही रहती है। इस प्रकार का अनुभव इतिहास मे बारबार हुआ है तो भी आदमी क्रान्ति के लिए हिंसा को अपनाने की बात कहते रहे हैं। हॉ, इधर लोगो की विचारधारा मे उत्तरोत्तर परिवर्तन हो रहा है, अब हिंसा की सफलता मे पहले जैसी आशा या श्रद्धा नहीं रही है, वह घटती जा रही है।

**कानून का प्रभाव सीमित ही होता है**—आजकल बहुत से आदमियों का कानून की शक्ति मे बहुत विश्वास पाया जाता है। वे प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक समस्या हल करने के लिए कानून बनवाने का सुझाव रखा करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि कानून की कुछ मर्यादाऍ हैं। कानून ज्यादा से ज्यादा यह कर सकता है कि कुछ लोगो को बुराई करने से रोकने मे सहायक हो, परन्तु वह उन्हे भलाई करने की प्रेरणा नही दे सकता। फिर, उसकी सफलता विशेष दशा मे (और परिमित सीमा तक) ही होती है।

वास्तव मे कानून उसी दशा मे सफल होता है, जब उसके लिए यथेष्ट भूमिका तैयार होती है, अधिकाश आदमी उसकी भावना का आदर करते हैं। कानून केवल जनता की इच्छा को व्यक्त करता तथा उस पर अपनी मोहर लगाता है। इस प्रकार समाज-सुधार मे कानून के लिए स्थान लोकमत के बाद ही होता है। प्रथम स्थान लोकमत-निर्माण या विचार-परिवर्तन का है। परन्तु साधारण ही नहीं, अनेक समझदार आदमी भी कानून को प्रमुख मान लेते हैं। वे सोचते हैं कि कानून बन जाने से लोगो के विचार स्वय बदल जायँगे। यह ठीक है कि अस्सी-नव्वे फी सदी जनता का एक प्रकार का विचार हो तो कानून से शेष दस-बीस फी सदी का भी विचार वैसा बनने मे कुछ सहायता मिल सकती है, परन्तु यदि केवल दस-बीस फी सदी आदमियो की ही एक भावना है

तो कानून बन जाने से शेष सब जनता वैसा आचरण करने वाली नहीं बन जायगी। कानून एक सीमा तक लोगों को सज्जन बनाने की परिस्थिति पैदा करता है, पर लोगो को प्रत्यक्ष रूप से सज्जन नहीं बनाता। अंग्रेजी मे कहावत है कि 'आप घोडे को नदी तक ले जा सकते हैं लेकिन आप उसे पानी पीने के लिए मजबूर नही कर सकते।' अस्तु कानून की जबरदस्ती से आदमी सुधारे नही जा सकते, क्रान्ति नहीं की जा सकती।

**क्राति की आधार-शिला, विचार-परिवर्तन**—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क्राति को सफल और स्थायी बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज के विविध प्रकार के आदमियों के विचारो मे आमूल परिवर्तन हो, उनके मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण बदले। वे जीवन के पुराने मूल्य-मापो को अस्वीकार करें और आचार-व्यवहार के नये मूल्य स्थापित करे। विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन होगा, आचार-व्यवहार बदलेगा, और उससे जीवन-परिवर्तन होगा। तब आदमी अपनी-अपनी इच्छा से, बिना किसी दबाव प्रलोभन या भय के उस प्रकार कार्य करेंगे, जैसा कराना क्राति का उद्देश्य है। वास्तव मे कुछ लोगो की या बहुत लोगो की भी इच्छा या निश्चय का अनिच्छुक या विरुद्ध मत वाले आदमियों पर लादा जाना क्रान्ति नही है। क्रान्ति तो जनसाधारण के बदले हुए विचारो की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नये दृष्टिकोण के अनुसार लोकमत-निर्माण या विचार-परिवर्तन किया जाना क्रान्ति का बुनियादी काम है।

इसलिए समाज मे वास्तविक क्राति कराने वालों का कर्तव्य होता है कि जनता को अपना दृष्टिकोण समझावे, और बराबर समझावे। यदि लोगों को उनकी बात ठीक नही जचती, उसमे शका होती है या वे उसका उपहास करते हैं तो भी सूत्रधारो को निराश होने या

घबराने की कोई बात नहीं है। उन्हें अपने मंतव्य में दृढ़ निष्ठा रखते हुए, निरन्तर धैर्य-पूर्वक लोगों को समझाते रहने का कार्य-क्रम चलाते रहना है। जो आदमी आज नहीं समझते वे कल समझेंगे, कल भी न समझने वाले परसों समझेंगे। हमें यह विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः भला होता है, आप उसके हृदय को स्पर्श करें तो वह मानव-हित के कार्य में यथेष्ट सहयोग प्रदान करने को तैयार हो जायगा।

**हृदय-परिवर्तन**—कुछ दशाएँ ऐसी भी हो सकती हैं, और होती हैं, जिनमें केवल समझाना-बुझाना पर्याप्त नहीं होता अर्थात् यथेष्ट प्रयत्न करने पर भी विचार-परिवर्तन नहीं होता। ऐसी दशा में सत्याग्रह और असहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए। इस मार्ग के अवलम्बन करने वालों को इस कार्य में जल्दबाजी न करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रखना और अपनी भावना तथा व्यवहार का उच्च स्तर बनाये रखना जरूरी है। स्मरण रहे कि असहयोग किसी व्यक्ति से नहीं होता, वह तो केवल व्यक्ति की बुराई के साथ होता है। इसमें हमारा उद्देश्य किसी व्यक्ति को कष्ट पहुँचाना या उसकी स्थिति से अनुचित लाभ उठाना नहीं होता. व्यक्ति से तो हमारा स्नेह ही होता है, हम उसकी उन्नति और सुधार चाहते हैं, हम केवल उसकी बुराई दूर करना चाहते हैं। सम्भव है, वह उसमें अपनी भौतिक हानि समझे, अथवा उसे अपने पूर्व संस्कारों के कारण हमारा दृष्टिकोण बहुत गलत और क्षोभजनक प्रतीत हो, वह हमें अपना विरोधी भी समझे और हमसे शत्रुता का व्यवहार करे। इसलिए सत्याग्रह और असहयोग करने वाले को दूसरों के द्वारा मिलने वाले लाञ्छन, अपमान या शारीरिक आघात आदि को शान्ति पूर्वक सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसके कष्ट-सहन और धैर्य से उसके उद्देश्य और प्रयत्न को बल ही मिलेगा, लोगों को क्रान्ति की उपयोगिता में विश्वास बढ़ेगा। कितने ही आदमी जो पहले क्रान्ति का

विरोध करते थे, अब उनका रुख बदल जायगा, यहाँ तक कि उनमे से कुछ क्रान्ति मे प्रत्यक्ष सहायता देने लगेगे। इस प्रकार हृदय-परिवर्तन का कार्य और अधिक वेग से होने लगता है।

परिस्थिति-परिवर्तन—क्रान्ति के लिए परिस्थिति-परिवर्तन भी बहुत आवश्यक और उपयोगी है। हॉ, इसका स्थान सर्व-प्रथम नही, अर्थात् यह नही सोचना चाहिए कि परिस्थिति-परिवर्तन मात्र से उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए मद्यपान का निषेध करना है। इसके लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करना यह है कि जो लोग मद्यपान करते है उनके पास मोहल्लो मे, या बाजारो मे शराब की दुकाने न हो, जो दुकाने हो, वे उठा दी जायॅ। परन्तु यह समझना भूल है कि इससे ही मद्यपान बन्द हो जायगा। यदि पहले से लोगो को मद्यपान की हानियॉ समझाकर, घर-घर स्कूलो, होटलों, सिनेमाघरो और सार्वजनिक स्थानो मे, छोटो-बडो सब मे खूब प्रचार करके जनता के हृदय मे यह बात नही बैठा दी गयी है कि शराब उन्हे बरबाद करने वाला पदार्थ है तो कानून बन जाने या दुकाने न रहने का नतीजा केवल यह होगा कि आदमी मद्यपान खुले-आम न करके चोरी-छिपे करेगे और पास मे न मिलने पर दूर-दूर से लाकर या स्वय तैयार कर के इसका सेवन करने लगेगे। कानून केवल किताबो मे रखा रहेगा और दड-भय एक सीमा से आगे बेकार साबित होगा। निदान, मद्य-पान-निषेध के लिए प्रमुख आवश्यकता विचार-परिवर्तन की और हृदय-परिवर्तन की है, हॉ, परिस्थिति-परिवर्तन भी उसमे सहायक हो सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयो के लिए विचार किया जा सकता है।

क्रान्ति और भूदान-यज्ञ—भारत का वर्तमान भूदान-यज्ञ अहिसक क्राति का बहुत अच्छा उदाहरण है। इसमे जिन लोगों के पास बहुत अधिक जमीन है, उनसे छीनने-झपटने या हिसक कार्रवाई

करने का प्रश्न ही नही। कानून या राजसत्ता मे भी यह कार्य नही कराया जा रहा है। विनोबा और उनके सहयोगी गॉव-गॉव घूमते हैं, लोगों को समझाते हैं कि किसी व्यक्ति का अपने को जमीन का मालिक मानना अनुचित है, हवा और पानी की तरह जमीन कुदरती देन है, इसमें सबका हिस्सा है। जिस तरह हवा और पानी का उपयोग समाज के लिए होता है, उसी तरह जमीन का उपयोग भी समाज-हित की दृष्टि मे होना चाहिए। जो आदमी खेती नही करता, उसके पास जमीन न रहे, इसी प्रकार जो आदमी या परिवार जितनी जमीन पर खेती कर सकता है, वह उससे अधिक जमीन अपने पास न रखे। इस प्रकार लोगों के विचार बदले जा रहे हैं, नयी मान्यताएँ स्थापित की जा रही हैं।

विशेष वक्तव्य—यद्यपि भूदान अन्दोलन से स्थूल या प्रत्यक्ष कार्य जितना हुआ है, और हो रहा है उसका काफी महत्व है, पर इससे अधिक मूल्यवान तो इसके द्वारा बनने वाला वातावरण है। शान्ति-पूर्वक एक महान् क्रान्ति हो रही है। भूदान के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन की विविध समस्याओं को हल करने, क्रान्ति करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय मत-परिवर्तन या विचार-परिवर्तन ही है। हिंसा तथा कानून के समर्थकों को इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए।

---

बारहवाँ अध्याय

# साधन-शुद्धि आवश्यक

वे कहते हैं—'साधन आखिर साधन हैं।' मै कहूँगा—'साधन ही अन्त मे सब कुछ है।' जैसे हमारे साधन होगे, वैसा ही साध्य भी होगा। साधनो और साध्य के बीच मे कोई अलग करने वाली दीवार नही है। साधनो के ठीक अनुपात मे ही हमारे ध्येय या साध्य की सिद्धि होगी। इस विधान मे अपवाद को कोई गुँजाइश नही है।

—गाँधीजी

सावन ही अन्त मे साध्य का रूप ले लेता है। दोनो का अंतिम रूप एक ही हो जाता है। रास्ता वहाँ खतम होता है, जहाँ मुकाम आता है। आखिर रास्ता क्या है? हमे मुकाम पर पहुँचाने का साधन मात्र है। मार्ग का अन्तिम विन्दु ही मुकाम है। साधन का अंतिम विन्दु साध्य है। यदि हमने उपयुक्त साधन अपना लिया तो साध्य प्राप्त होना केवल समय का प्रश्न है।

—दादा धर्माधिकारी

हम समाज की नयी व्यवस्था करना चाहते है। हमे धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक क्रान्ति करनी है। नव-निर्माण सम्बन्धी अनेक कार्य हमारे सामने हैं। प्रश्न यह है कि उन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए हमारे साधन कैसे हों? क्या हम चाहे-जैसे साधनो से काम ले, जिस साधन से भी उद्देश्य-सिद्धि की सम्भावना हो, उसी को ठीक समझ ले, उसके भले या बुरे होने का विचार न करे?

**साधन-शुद्धि की अवहेलना**—साधारण तौर से हम साध्य के विषय में खूब सोच-विचार करते हैं। हम निश्चय कर लेते हैं कि उद्देश्य अच्छा ही होना चाहिए, खराब उद्देश्य को हम अशोभनीय मानते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन साधनों से काम लेना है, वे भी अच्छे होने चाहिए। हम जब अपने सामने एक विशेष लक्ष्य रख लेते हैं तो फिर यह विचार करने की झंझट में नहीं पड़ते कि उसे प्राप्त करने के लिए अमुक साधन ठीक होंगे और अमुक ठीक नहीं। हमें तो जैसे भी बने सफलता प्राप्त करने की इच्छा होती है, चाहे वह सफलता किसी भी प्रकार के साधनों से मिले। इस प्रकार साधन शुद्धि की ओर हमारी उदासीनता रहती है।

**कुछ उदाहरण**—कई बार ऐसा देखने में आया कि किसी व्यक्ति या कुछ मित्रों ने मिल कर एक स्कूल या अस्पताल चलाने का विचार किया। उन्हें इसके लिए रुपये की आवश्यकता हुई तो उन्होंने इसके लिए लाटरी अर्थात् जुए के टिकट निकाले। वे जानते हैं कि जुआ एक खराब काम है, इससे लोगों में मुफ्त में या बिना मेहनत धन पाने की लालसा बढ़ती है, पर उन्होंने समझ लिया कि समाज में शिक्षा या स्वास्थ्य-चिकित्सा का प्रचार करना एक अच्छा काम है, इसे करने के लिए यदि लाटरी या जुए का साधन काम में लाया जाय तो कोई हर्ज नहीं। ये लोग नहीं सोचते कि एक स्कूल या अस्पताल से यदि कुछ लोगों का मानसिक या शारीरिक हित होता है तो जुए के प्रचार से, तथा जुए के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ाने से कितनी आर्थिक तथा नैतिक हानि होती है।

अनेक बार आदमी अपने देश को स्वतन्त्र करने के लिए जहाँ तहाँ किसी अधिकारी की हत्या करके शासकों पर आतंक जमाने की योजना किया करते हैं। ये योजनाएँ गुप्त रीति से होती हैं इनके लिए

खुले-आम चन्दे आदि से धन सग्रह नही किया जा सकता। इसलिए आतककारी अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए डाके डालने या देश के धनिको को लूटने आदि का काम करते हैं। ऐसे आतक-कारियो के देश-प्रेम मे तो शंका नही की जा सकती, पर इनके द्वारा कई बार जाने-अनजाने निर्दोष आदमियों की हत्या हो जाती है, उस बात को छोड दिया जाय तो भी लूटमार और डाके से स्वतत्रता-प्राप्ति का (यदि वह किसी अश मे सफल भी हो जाय) कदापि समर्थन नही किया जा सकता, कारण इससे ऐसा दूपित वातावरण बनता है कि देश स्वतत्र होने पर भी यथेष्ट सुख शान्ति का अनुभव नही कर सकता।

भारत के पराधीनता काल मे अगरेज शासक यहॉ अफीम की पैदावार करा कर उसे चीन आदि देशो मे भेजकर और इस देश मे शराबखोरी जारी रख कर आमदनी हासिल करते थे। जब राष्ट्रीय नेता इसका विरोध करते थे तो अधिकारी कहा करते थे कि देश मे शिक्षा प्रचार आदि का कार्य करने के लिए उन बातों की जरूरत है। अब अफीम का व्यापार तो बन्द ही है, पर मद्यपान जारी है। कई बार कुछ अधिकारी यह कहा करते हैं कि यदि सरकार मद्य-निषेध नीति अपनाएगी तो उसकी आमदनी कम हो जायगी, फिर शिक्षा आदि के लिए यथेष्ट द्रव्य न रहेगा। इस तर्क मे कोई सार नही है, और इसके खंडन मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है। हमे यहॉ केवल यही कहना है कि शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य अच्छा होने पर भी उसके लिए यह नीति जारी रखना सर्वथा अनुचित है। अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी बुरे साधनो का उपयोग न करना चाहिए।

**साधन और साध्य की अनिवार्य एकता**—साधन-शुद्धि की अवहेलना या उपेक्षा का कारण यह है कि प्राय. आदमी साधन और साध्य को दो ऐसी चीजे समझते हैं, जो एक दूसरे से जुदा हों, जिनका

एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु यह बडी भूल है। असल
मे साधन से ही साध्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता
है कि साधन बीज है, और साध्य उसका फल। जैसा बीज होगा, वैसा
पेड लगेगा और उसके अनुसार फल आएगा। बबूल के बीज से आम
की आशा करना अपने आपको धोखा देना है। अगर हम आम का
फल चाहते हैं तो आम की ही गुठली बोनी चाहिए। श्री जवाहरलाल
नेहरू ने कहा है—'हमारा लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के लिए अप-
नाये गये साधनों में बहुत पास का और गहरा सम्बन्ध है। साध्य के
सही होने पर भी अगर साधन गलत है, तो वे साध्य को बिगाड देंगे
या उसे गलत दिशा में मोड देंगे। इस तरह साधन और साध्य में
गहरा और अटूट सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा
सकते।'*

**गाँधी जी के विचार**—आधुनिक काल में जनता का इस ओर
व्यापक रूप से ध्यान दिलाने तथा इसे क्रियात्मक स्वरूप देने का श्रेय
गाँधी जी को है। उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का लगभग तीस
वर्ष सचालन किया, इस आन्दोलन के अन्दर केवल सामाजिक, आर्थिक
या औद्योगिक कार्यक्रम ही नहीं रहा, इसमें भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति
की भी बात थी। गाँधी जी ने अपने सभी कार्यक्रम में साधन-शुद्धि का
आग्रह किया। खासकर स्वाधीनता-आन्दोलन में ऐसी नीति की सफलता
में लोगों को पूरा सन्देह था। बडे-बडे बुद्धिमान कहे और माने जाने
वाले व्यक्ति बारबार इतिहास की दुहाई देते हुए कहते थे कि
राजनीति में साधन-शुद्धि की हठ करना ठीक नहीं। पर गाँधी जी
अडिग रहे, और आखिर वे अपने प्रयत्नों में यशस्वी होकर विवेक-
शीलों को साधन शुद्धि में विश्वास दिला सके।

गाँधी जी का कथन है—'यदि हम किसी ध्येय को प्राप्त करने के

---

*देखिए, 'सर्वोदय का सिद्धान्त'।

के साधन नहीं जानते या उनका उपयोग नही करते तो उसकी स्पष्ट से स्पष्ट परिभाषा और समझ भी हमे उसके पास तक नही पहुँचा सकती। इसलिए मैंने मुख्य चिन्ता साधनो को सुरक्षित रखने की और उनके प्रगतिशील उपयोग की ही रखी है। मै जानता हूँ कि अगर हम साधनो की सभाल कर सके तो ध्येय की सिद्धि निश्चित है। मै यह भी मानता हूँ कि हमारे साधन जितने शुद्ध होगे, ठीक उसी अनुपात मे ध्येय की तरह हमारी प्रगति होगी।[१]

विशेष वक्तव्य—समाज-निर्माण सम्बन्धी विविध क्षेत्रो मे काम करने वाले यदि साधन-शुद्धि का महत्व समझ कर इसे व्यवहार में लाने लगे तो यह ससार कितना सुधर जाय! अनुचित या अशुद्ध साधनो को अमल मे लाने से वास्तविक साध्य की प्राप्ति नही होती, और यदि साध्य प्राप्त होता हुआ मालूम हो तो भी नैतिक वातावरण दूषित होने से समाज की इतनी अधिक क्षति होती है कि कुल मिला कर यह काम घाटे का ही होता है। इसके विरुद्ध शुद्ध साधनों के उपयोग मे हानि की कोई बात ही नही हैं, जितनी सीमा तक उनका उपयोग होगा, जनता को वहाँ तक नैतिक लाभ मिलेगा ही, और यह लाभ समाज की स्थायी कमायी होगी, जिसके उत्तरोत्तर बढते रहने की सम्भावना है। बहुधा आदमी जल्दबाज होते हैं, वे चाहते हैं कि उद्देश्य की प्राप्ति जल्दी से जल्दी हो जाय, इस लिए वे जो भी साधन सुलभ होता है, उसी से काम निकालने के लिए उत्सुक रहते है। परन्तु यह पद्धति अस्वाभाविक है। समाज-निर्माण का कार्य धैर्य और गम्भीरता पूर्वक होना चाहिए और इसमे साधन-शुद्धि से देर लगाती मलूम हो तो भी इसे ही अपनाना चाहिए, कारण, कि यही ठीक है।

---

[१] 'अमृत बाजार पत्रिका' १७-९-३३

## तेरहवां अध्याय

# अर्थ-रचना और राज्य-रचना विकेन्द्रित

मुख्य वात यह है कि सब आदमियो को पूरा रोजगार मिले, उन्हें सभ्य नागरिक जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध हो और सघर्ष एव युद्ध के भय से सब मुक्त रहें। ये तीनो लक्ष्य हमारी अर्थ-व्यवस्था मे ग्रामोद्योगो को केन्द्र-विन्दु मानकर ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

—भारतन कुमारप्पा

सच्ची लोक-सत्ता तब तक नहीं आ सकती, जब तक शासन को केन्द्रित करते हैं और सेवा का आधार रखते हैं। अत होना यही चाहिए कि गाव-गाव मे सत्ता का विभाजन हो।

—विनोबा

[ १ ]

## अर्थ-रचना का विकेन्द्रीकरण

समाज-व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण का महत्व—सामाजिक जीवन के लिए प्रेम और स्नेह बहुत आवश्यक हैं। इनका आधार व्यक्तिगत सम्बन्ध है, और व्यक्तिगत सम्बन्ध जितना छोटे समूहो मे व्यक्त हो सकता है, उतना बडे समूहो मे नही। बडे-बडे केन्द्रित समूहों मे तो आदमी को एक-दूसरे को जानने, समझने और हार्दिक सम्पर्क रखने का न अवसर मिलता है और न उसकी अनुकूलता होती है। जिन लोगो से हमारे सम्पर्क आदि का प्रसग कम आता है, उनसे

हमारा स्नेह सम्बन्ध कम ही होने वाला है। इस प्रकार समाज-व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण का महत्व स्पष्ट है।

इस अध्याय मे अर्थ-रचना और राज्य-रचना के विकेन्द्रीकरण का विचार करना है। पहले अर्थ रचना की बात ले।

**अर्थ रचना का ध्येय, मानव हित-साधन**—आज-कल अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य यह माना जाता है कि खूब सामान बनाया जाय, जैसे भी बने, उत्पादन बढ़ाया जाय—यह कार्य यन्त्रो द्वारा ही विशेप होता है। फिर, उत्पन्न माल को खपाने के लिए विदेशी बाजारो को हथियाया जाय, शान्ति से नही तो बल-प्रयोग करके, युद्ध ठान करके। परन्तु सर्वोदय दृष्टि दूसरी ही है। उसके अनुसार अर्थ-रचना का ध्येय केवल भौतिक वस्तुओ का निर्माण न होकर मानव हित होगा। उसमे मनुष्य का यथेष्ट महत्व रहेगा और जीवन ही समृद्धि भोग-विलास की सामग्री के परिमाण से नही नापी जायगी, मानवी गुणो से, सहानुभूति और सहयोग, त्याग और सेवा-भाव से। स्पष्ट है कि व्यवस्था ऐसी तो होनी ही चाहिए, जिससे सब को रोजगार मिले, और सब स्वावलम्बी बने।

**अर्थ-रचना विकेन्द्रित करने की आवश्यकता**—यह बात केन्द्रित अर्थ-रचना मे नही हो सकती। उसमे बडे-बडे यन्त्रो का उपयोग होता है, जिनपर थोडे से व्यक्तियो का स्वामित्व होता है, और जिनमे मानव श्रम की आवश्यकता कम होती है। जो उत्पादन ग्रामोद्योगों की विकेन्द्रित पद्धति से हजार आदमियो द्वारा होता है, वह बडे-बडे कल कारखानो मे सौ आदमियो द्वारा हो जाता है, और पीछे नये-नये बढ़िया यन्त्रो के आविष्कार और उपयोग से उसके लिए श्रमिको की जरूरत और भी कम रह जाती है। इस प्रकार इनसे बेकारी और बेरोजगारी बढती जाती है। इससे बचने के लिए आवश्यक है कि उत्पादन के साधन चन्द आदमियों के अधिकार मे न रहे, सब आदमी

स्वतंत्र या सहकारी रूप में काम करें और स्वावलम्बी जीवन बितायें। यह बात विकेन्द्रित या ग्रामोद्योगी उत्पादन में ही होती है।

ग्रामोद्योगी कार्य—ग्रामोद्योगी कार्यों में उन सब कार्यों का समावेश है, जो सर्वसाधारण जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनके स्थूल रूप से तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) जो रोजमर्रा के काम की चीजें हैं, जैसे भोजन, कपडा, मकान आदि, ये गॉव-गॉव में छोटे उद्योगों के रूप में बनायी जायें। जो काम घर में हो सकता है, वह घर में हो, जैसे आटा पीसना, भोजन तैयार करना और सूत कातना। ( २ ) जो चीजें घर में नहीं बन सकतीं, वे गॉव में बनें, जैसे बुनकर कपडा बुने, तेली गॉव की जरूरत के लिए तेल निकाले, चमार जूता बनाये। इसी प्रकार गॉव में बढ़ई, लुहार, कुम्हार आदि काम करें। ( ३ ) जूतों के लिए चमडा बनाने का काम तथा गन्ने या ताड का गुड बनाने का काम दस-पॉच गॉवों के क्षेत्र में किसी एक स्थान पर हो सकता है। इस तरह कुछ धंधे घर-घर में, कुछ गॉव-गॉव में, और कुछ एक-एक ग्राम्य क्षेत्र की इकाई में हों। निदान, मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार, गॉव या ग्राम्य समूह को ऐसी इकाई के रूप में संगठित करना, जो अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो, सर्वोदय योजना का मुख्य उद्देश्य है।

पारस्परिक सम्पर्क और अहिंसक व्यवहार—विकेन्द्रित उत्पादन में स्थानीय सामग्री का उपयोग होता है। कच्चा माल उसी स्थान का होता है, और जो सामान तैयार होता है उसका उपयोग करने वाले भी अधिकतर वहा के ही होते हैं। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता में प्रत्यक्ष या सीधा सम्पर्क रहता है। उन्हें एक-दूसरे से काम रहता है। इससे उत्पादकों को स्वयं ही अच्छा काम करने की प्रेरणा होती है। उन्हें अपनी कलात्मक प्रवृत्ति का विकास करने का यथेष्ट अवसर मिलता है।

विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति मे श्रमी स्वतन्त्र होता है, जिन औजारों से काम करता है वे उसके ही होते हैं, उत्पादन का पूरा लाभ उसे ही मिलता है, न कोई उसके ऊपर हुकूमत करने वाला होता है, और न कोई उसका शोषण करने वाला। काम की देखभाल या व्यवस्था करने वाले होते हैं, पर वे भी एक प्रकार के श्रमी ही होते हैं, और उनका अपने श्रमी भाइयों से अहिंसक और प्रेममय व्यवहार होता है।

**विकेन्द्रित अर्थ-रचना मे यन्त्रोद्योगो का स्थान**—हमारी कुछ आवश्यकताएँ ऐसी भी है, जिनकी पूर्ति करने वाले सामान का उत्पादन केन्द्रित पद्धति से करना होगा अर्थात् जिनके लिए यन्त्रोद्योगी पद्धति का उपयोग किया जायगा। इनके तीन भेद किये जा सकते हैं :—(१) बिजली, नल के पानी आदि का प्रबन्ध उस गॉव या नगर की स्थानीय सस्था द्वारा होना चाहिए, जिससे इनका सम्बन्ध हो। (२) रेल, तार डाक, कोयले आदि की खाने, सडक हवाई जहाज, या नहर आदि जल-मार्गों का सम्बन्ध किसी एक नगर या प्रान्त से ही नहीं होता। इनका उपयोग राष्ट्रीय और कुछ का तो अन्तर्राष्ट्रीय होता है। ऐसी वस्तुओ का उत्पादन और सचालन राष्ट्रीय पचायतो या सरकारी-गैर सरकारी मिली जुली सस्थाओ दारा केन्द्रित पद्धति से करना होगा। (३) सैनिक उद्योगो की सर्वोदय व्यवस्था मे आवश्यकता न रहेगी, पर अभी जब तक आवश्यकता है, इनका उत्पादन केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रित पद्धति से ही करना ठीक होगा।

**विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था से विश्व-शान्ति**—आजकल केन्द्रित अर्थव्यवस्था मे हरेक औद्योगिक देश अधिक से अधिक कल कारखाने चलाकर विशाल परिमाण मे माल तैयार करता है और उसे दूसरे देशो में खपाने के लिए तरह तरह के उपायों से काम लेता है, औद्योगिक देशों की आपस मे खूब तनातनी रहती है, और विश्व-सकट की स्थिति

बनी रहती है। इससे बचने के लिए स्वावलम्बन-नीति को अधिक से अधिक अपनाने की ।जरूरत है। प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र अपनी प्रमुख या बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वय करने का प्रयत्न करे। जिन वस्तुओ की उत्पत्ति का निर्माण वह न कर सके उन्हे वह अन्य निकट के क्षेत्रों से ले। इस प्रकार लोगो को अपने प्रान्त के बाहर से वस्तुओं को मँगाने की जरूरत न हो, और किसी देश को दूसरे देशों के आश्रित होने का तो अवसर ही न आये। हम सयम और सादगी का जीवन बिताये और फैशन या विलासिता की वस्तुएँ काम मे न लाये, तो उनके आयात का प्रश्न ही न रहे। इस प्रकार कोई देश हमे व्यापार के नाम पर लूट न सकेगा। और साथ ही हमारा यह भी निश्चय रहेगा कि हम भी किसी देश मे मुनाफेखोरी की भावना से अपना माल भेजने को उत्सुक न होंगे। हम किसी के द्वारा शोपित होना नहीं चाहते तो हम किसी का शोषण करना भी पसन्द नही करते। वर्तमान राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति इस प्रकार की होने पर विश्व-शान्ति के मार्ग से बडी बाधा दूर हो जायगी और आगे कदम बढाने मे विलक्षण सहायता मिलेगी।

विशेप वक्तव्य—हमारी अभीष्ट अर्थव्यवस्था मे कुछ उद्योग केन्द्रित पद्धति से भी सचालित होगे, परन्तु उनका आकार प्रकार बहुत न्यून ही होगा। अधिकतर अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होगी। विशेप बात यह है कि हमारी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने की पद्धति ग्रामोद्योगी या विकेन्द्रित होगी, जिसमे व्यक्ति स्वावलम्बी और स्वाश्रयी होगा, न वह किसी के विकास मे बाधक होगा और न कोई उसके विकास को रोकने वाला होगा। मालिक मजदूर की, स्वामी और नौकर की भावना न होगी, सब, लगभग एक सरीखे धरातल पर रहते हुए एक दूसरे से प्रेम और सौहार्द का परिचय देगे। ग्रामोद्योगो के सम्बन्ध मे अन्य बाते अगले अध्याय मे दी जा रही है।

[ २ ]

## राज्य-रचना का विकेन्द्रीकरण

**वर्तमान अवस्था में वास्तविक लोकसता का अभाव**—पहले सत्ता राजाओ के हाथ मे थी। अब प्राय शासन का अधिकार एक व्यक्ति मे केन्द्रित न रह कर कुछ आदमियो को रहने लगा है। तथापि सत्ता सर्वसाधारण की नही है। जनता के प्रतिनिधि कहे जाने वाले-व्यक्तियों की सभा राज्य के किसी केन्द्रीय नगर अर्थात् राजधानी मे बैठ कर राज-काज करती है। नागरिको को पाच साल मे एक बार वोट या मत देने का मौका मिलता है, उस समय भी उन्हें कई सत्ताभिलाषी दलो मे एक चुन लेना होता है, चुनावो के बाद नागरिक उतने ही सत्ताहीन होते हैं, जैसे सर्वाधिकारी राज्य मे, वे बात-बात मे राजधानी के कर्त्ता-धर्ताओं के मुखापेक्षी होते हैं। गाव मे कौनसे पदार्थ बाहर से आने दिये जायॅ, किन पदार्थों का आना बन्द किया जाय, गाव से सरकारी आय किन मदों से किस हिसाब से हो, वह आय किस प्रकार खर्च की जाय, गाव मे कैसी शिक्षापद्धति चले, कैसा औषधालय बने—आदि बातो का निश्चय गाव मे नहीं होता, दूर शहरी राजधानियों मे होता है। इसी प्रकार चोरी, डाका या लूटमार और कत्ल की घटनाएँ गाव मे होती हें तो उनका विचार भी बाहर की अदालतों मे होता है, और आखरी फैसला करने वाली ऊँची अदालते तो सैकडो मील दूर होती हैं।

इस प्रकार भारत के स्वाधीन हो जाने पर भी यहॉ के लाखों गाव तो स्वराज्य से वचित ही हैं। सब सत्ता दिल्ली तथा कुछ अन्य नगरों मे केन्द्रित है। इस राजनैतिक केन्द्रीकरण के कारण राज्य सर्व-शक्ति-सम्पन्न है, भले ही उसे लोकतन्त्री कहा जाय। वास्तविक लोकसत्ता कायम करनी है तो यह बदल देना होगा। लार्ड एक्टन ने कहा था कि 'सत्ता मनुष्य को बिगाडती है, और पूर्ण सत्ता पूरी तरह बिगाडती है।' हमारे यहॉ

भी कहा है—'प्रभुता पाय काहु मद नाहीं', मनुष्य को सत्ता उतनी ही मिलनी चाहिए, जितनी वह आसानी से पचा सके। अस्तु, हमे सत्ता का विकेन्द्रीकरण करके सर्वत्र ग्रामराज स्थापित करना है।

**राजनैतिक विकेन्द्रीकरण नीति की आवश्यकता**—इसके लिए जरूरी है कि गॉव के रोजमर्रा के जीवन सम्बन्धी प्राय. सब बातो का निर्णय, श्रीगणेश और सचालन करने का अधिकार स्थानीय पचायतो को हो। उन्हे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यथेष्ट आय प्राप्त करने तथा उसे जैसा उचित समझे खर्च करने का अधिकार हो। गॉव की भोजन वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति का आयोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा, न्याय, यातायात आदि का प्रबन्ध ग्राम-सस्थाऍ करे। ऊपर की सस्थाऍ—जिला-सभा, राज्य-सभा आदि—उन्हे आवश्यक सलाह मशविरा दे, उनका पथ-प्रदर्शन करे, हुकूमत नही। उन्हे वे ही तथा वहॉ तक ही अधिकार हो, जहॉ तक नीचे की सस्थाऍ स्वीकार करे। इस प्रकार गॉव वाले यह निश्चय करेगे कि व्यवस्था सम्बन्धी कितनी जिम्मेदारी वे गॉव की सामूहिक शक्ति से निभाऍगे और जिम्मेवारी का कौनसा अश ऐसा है जो जिला-सभा को सौपना ठीक होगा। जिला-सभा अपनी क्षमता से अधिक अर्थात् अवशिष्ट जिम्मेवारी राज्य-सभा को, और राज्य-सभा अपनी अवशिष्ट जिम्मेवारी केन्द्रीय सभा को सौंपेगी। केन्द्र को देश-रक्षा, राष्ट्रीय यातायात, राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय विषयो के सम्बन्ध में ही निर्धारित अधिकार रहेगा। इस तरह जीवन की बुनियाद गॉव से शुरू होकर उसकी व्यवस्था विश्व-परिवार तक होगी और ज्यो-ज्यों ऊपर चलेगे व्यवस्था क्षीण होती जायगी, अन्तिम अवशिष्ट बहुत ही सूक्ष्म होगा।

**सस्थाओ का सगठन, निर्वाचन पद्धति**—यह व्यवस्था प्रतिनिधिमूलक तो होगी, परन्तु जबकि व्यवस्था सम्बन्धी प्रथम प्रेरक

निर्णय ग्राम-समाज अर्थात् पचायत के हाथ मे होगा तो उसी पर नागरिको का प्रत्यक्ष अधिकार होगा, उसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा। ऊपर की व्यवस्था ग्राम-पचायत द्वारा की गयी होगी। जिला-सभा गॉव-पंचायत के प्रति, राज्य-सभा जिला-सभा के प्रति और राष्ट्र-सभा राज्य-सभा के प्रति जिम्मेदार होगी। इसलिए जिला-सभा मे गॉव-पचायतो का, राज्य-सभा मे जिला-सभाओ का, और राष्ट्र-सभा मे राज्य-सभाओं का प्रतिनिधित्व होगा; अर्थात् इनके प्रतिनिधियो का चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा। आजकल के बडे-बडे चुनावो में एक-एक सदस्य के चुनाव के लिए कई-कई हजार रुपया खर्च होता है, और बहुत भ्रष्टाचार, छल-कपट, लड़ाई-झगडे होते हैं, समाज मे दूषित वातावरण बना रहता है, और सदस्य भी प्रायः ऐसे चुने जाते हैं जिनसे निवाचको का प्रत्यक्ष परिचय नही होता। उनके विषय मे मतदाताओं को जो जानकारी होती है, वह विज्ञापनबाजी के आधार पर होती है, जिसका अर्थ ही आजकल अत्युक्ति और झूठ है। ऐसी बाते स्वस्थ समाज के लिए कितनी अनिष्टकर हैं, यह स्पष्ट ही है। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण होने पर ये नही रहेंगी।

**विकेन्द्रीकरण से मनुष्य की वृति मे सुधार**—मनुष्य मे समाजवादी और व्यक्तिवादी दोनों प्रकार की वृत्तियॉ होती हैं। इस समय राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के केन्द्रित होने के कारण व्यक्तिवाद बढा हुआ है। केन्द्रित अर्थनीति मे गॉव के आदमियों को जिन्दा रहने का साधन अलग-अलग, केन्द्र से प्राप्त करना होता है। इससे आदमियों की वृति अपने पडोसी की अपेक्षा अधिक सहूलियत प्राप्त करने की होती है। इससे प्रतिद्वन्दिता बढती है, और प्रतिद्वन्दिता व्यक्तिवाद बढाती है। अगर विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी अर्थनीति चले तो क्योकि प्रत्येक मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अकेला उत्पादन नही कर सकता, उसका स्वार्थ ही

उसे अपने पडोसी के साथ नाता जोडने के लिए बाध्य करेगा। इस कारण उसके स्वभाव मे अनिवार्यत' सहकार-वृत्ति का विकास होगा। सहकार समाजवाद का मूल तत्व है। इससे स्पष्ट है कि यदि अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित हो तो मनुष्य स्वभावत. वैयक्तिक के बजाय सामाजिक भावना को अपनायेगा।*

विशेष वक्तव्य—विकेन्द्रीकरण के विषय में खुलासा हमारी 'राज-व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' पुस्तक मे लिखा गया है। सक्षेप मे यह आवश्यक है कि अर्थ-रचना और राज्य-रचना दोनो को विकेन्द्रित किया जाना चाहिए। इन दोनों कार्यों के लिए हमारी प्रारम्भिक इकाई गॉव या ग्राम-क्षेत्र होगा, जो जीवन और जागृति का एक अच्छा केन्द्र होगा। आर्थिक दृष्टि मे वह स्वावलम्बी और बहुत कुछ अशो मे स्वय-पूर्ण तथा दूसरी इकाइयों से यथेष्ट सहयोग करने वाला होगा। राजनीतिक दृष्टि से वह स्वतत्र प्रजासत्तात्मक होगा, जो बाहरी तडक-भडक न रखते हुए भी मानव सस्कृति का सुन्दर कल्याणकारी प्रतीक होगा।

---

*श्री धीरेन्द्र मजूमदार की 'युग की महान चुनौती' के आधार पर।

## चौदहवां अध्याय

# खेती और ग्रामोद्योग की प्रधानता

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक (शारीरिक) श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव मे देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है, उसमे सब उसे नहीं कर सकते। इस लिए खेती का आदर्श ध्यान में रख कर आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है।

—गाँधी जी

जुआ सरासर जुआ है ही, पर श्रम-प्रधान कृषि और ग्रामोद्योग को छोड़ इधर के पैसे को उधर लगाने का अनुत्पादक रोजगार भी एक जुआ ही है। इसी लिए ऋषियो का सदा इसी पर जोर रहा कि कृषि को ही अपना मुख्य उद्योग बनाओ।

—शिवाजी भावे

[ १ ]

## खेती

मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति दो तरह के पदार्थों से होती है, एक तो उन पदार्थों से जो भूमि से पैदा किये जाते हैं, दूसरे उन पदार्थों से जो भूमि से उत्पन्न पदार्थों के, विविध क्रियाओ द्वारा बनाये जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए खेती और उद्योग

धधों की अनिवार्य आवश्यकता है। ससार के समस्त पदार्थ इन्ही दो श्रेणियों के अन्तर्गत है। हमें विचार करना है कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था मे इनका क्या रूप होना चाहिए। पहले खेती की बात लें।

**खेती करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य और अधिकार**—खेती से मनुष्य को मूल आवश्यकताओ की पूर्ति का सामान ही नही मिलता, इसमे उसे स्वास्थ्य और सुख प्राप्त होता है, इसका उसके जीवन पर बहुत प्रभाव पडता है। इसलिए खेती करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त आदमी को खेती करने मे प्रकृति से सम्पर्क रहता है, इससे उसे एक विशेष प्रकार का आनन्द होता है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कोई उसे इस आनन्द मे वंचित न करे। भूमि की सेवा करने मे आदमी प्रकृति माता की गोद मे रहने का सा अनुभव करता है, जो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है। इस प्रकार आदर्श समाज रचना मे खेती करना मनुष्य का कर्तव्य एव अधिकार दोनों है।

श्री विनोबा ने कहा है—'दुनिया मे खेती सर्वोत्तम व्यायाम व शरीर-परिश्रम माना जायगा। वहाँ पर स्वच्छ हवा मिलती है, सूर्य की किरणों का और आकाश का सेवन करने का मौका मिलता है, सब का समुचित सेवन होता है। उत्पादन होता है। फिर इसके साथ बोने का और फसल पैदा करने का सारा ब्रह्म कर्म मनुष्य देखता है। इसमे किसी का विरोध नही होना चाहिए।'*

**खेती से बौद्धिक कार्यों का सुधार**—प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग को खेती का काम करना ठीक नही जँचता। लोगों की आम धारणा यह है कि यदि बुद्धिजीवी खेती करेगे तो उनके द्वारा किये जाने वाले

* 'ग्राम राज', १ जून १९५५

विशेष कार्यों को धक्का पहुँचेगा, उनका ह्रास होगा। परन्तु विचार करने पर यह धारणा भ्रममूलक सिद्ध होगी। एक आदमी कोई एक ही काम करे, और रोज-रोज उसे ही करता रहे तो उसे वह नीरस प्रतीत होने लग सकता है। इसके विपरीत यदि उसके दैनिक कार्यक्रम मे कुछ परिवर्तन होता रहे, वह कुछ समय ऐसा शरीर-श्रम करे जिसमे प्रकृति के निकट रहने का भी अवसर हो तो यह निश्चय है कि उसका बौद्धिक कार्य भी पहले से अच्छा होगा। श्री विनोबा ने पहले उद्धृत लेख मे ही कहा है—'(आदर्श समाज-रचना मे) न्यायाधीश चार घंटे खेती करेगा और बचे हुए समय मे न्यायदान करेगा तो उसका न्यायदान अधिक अच्छा होगा। अध्यापक चार घंटे खेती करेगा और चार घंटे अध्यापन करेगा तो उसके अध्यापन मे वास्तविकता और दिव्यता दोनो गुण आयेगे। दोनों की, शिक्षण मे बहुत जरूरत होती है। केवल वास्तविकता रही तो सामान्य व्यवहार का शिक्षण हो जाता है और केवल दिव्यता रही तो शिक्षण का वास्तविक जगत से सम्बन्ध नही रहता है। इसलिए कृषि-कर्म शिक्षण का सर्वोत्तम साधन है, क्योंकि उसमे दिव्यता और वास्तविकता दोनो आजाती हैं।

**वर्तमान अवस्था मे कृषि-कार्य से बहुत से लोगो का सीधा सम्बन्ध नहीं**—वर्तमान अवस्था मे बुद्धिजीवियों का कृषि कार्य से कुछ वास्ता नही रहता। आदमियो को यह बात बडी अजीब मालूम होती है कि बौद्धिक कार्य करने वाला व्यक्ति खेती जैसा 'गवारू' काम करे। फिर, आजकल उन्नत कहे जाने वाले देशो मे खेती का जो काम होता है, वह अधिकतर यन्त्रो से किया जाता है, जिसमे कृषि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बहुत कम लोगो का रहता है। अनेक दशाओ में एक-एक आदमी के पास बहुत बडी-बडी जमीने हैं, जिन्हें वह स्वय नही सभाल पाता, मालिक कहा जाने वाला व्यक्ति अपनी जमीन मे दूसरे मजदूरो द्वारा खेती कराता है। इस दशा मे जो लोग खेती का

वास्तविक कार्य करते हैं वे उसमें स्वतन्त्रता पूर्वक भाग नहीं लेते, दूसरे की अधीनता में रहते हैं, इसलिए उन्हें कृषि-कार्य में जितना मानसिक और सांस्कृतिक लाभ मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता।

**सुधार की आवश्यकता**—आदर्श समाज-रचना की दृष्टि से यह परिस्थिति बहुत दूषित है। समाज में अधिक से अधिक लोगों का कृषि-कार्य से सीधा सम्बन्ध रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि यथा सम्भव कोई आदमी निरा बौद्धिक कार्य करने वाला न हो बुद्धिजीवी निर्धारित घंटे कृषि-कार्य अवश्य करे। अपवाद रूप कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर खेती का काम यंत्रों द्वारा न होकर हाथ से तथा पशुओं की सहायता से किया जाय। किसी के पास इतनी अधिक भूमि न हो कि वह दूसरे मजदूरों से काम कराकर ही खेती का लाभ उठाता रहे। देश में खेती करने वालों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए, जब उन्हें खेती का काम न रहे, उस समय वह ग्रामोद्योगों का काम करे। किन्तु स्वास्थ्य और व्यक्तित्व-विकास के लिए अधिक से अधिक आदमी खेती का कुछ काम अवश्य करें।

**छोटी खेती से विलक्षण लाभ**—एडमाड जेकेली ने लिखा है—'यह तो प्रत्यक्ष है कि छोटे खेतों पर बाहर रहने और स्वच्छ वायु और धूप में तीन घंटे प्रतिदिन काम करने वालों का स्वास्थ्य शहरों में किसी डेस्क या मशीन पर झुके रहने वाले से कहीं अच्छा होगा। वर्तमान व्यवस्था की यांत्रिक पद्धति के अन्दर काम करने वाला नागरिक अपनी प्रकृति-प्रदत्त योग्यताओं को खो देता है और बहुत जल्द खुद एक यन्त्र बन जाता है। इसके विपरीत, छोटे खेतीहरों का जीवन सृजनात्मक क्रियाओं की विविधताओं से भरा रहता है। बाग और खेत में पौधों और वृक्षों के साथ काम उसे प्रकृति के नियमों

के निरीक्षण मे मदद पहुँचाता है। अन्य शारीरिक श्रम उसके कौशल और क्षमता को बढाता है। उसके काम मे एकाकीपन नही होगा और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण ताजे और मौलिक होगे। छोटे खेतीहरो के दैनिक जीवन मे काम, अभिरुचि, विविधता, आनन्द और शिक्षा सभी मेल खाते हैं। जो वह करता है, वह उसकी शिक्षा भी है। जीवन-निर्वाह के योग्य खेती पर निर्वाह करना एक आर्थिक और शिक्षा का काम है। यह मनुष्य को सोचने का मौका देता है। यह व्यवहारिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और स्वतत्र जीवन व्यतीत करने की सभावना को दर्शाता है।*

[ २ ]

## ग्रामोद्योग

**ग्रामोद्योगो की प्रधानता क्यो हो ?**—खेती की बात यहाँ समाप्त कर अब उद्योगो का विषय ले। सर्वोदय समाज का लक्ष्य सामने रखते हुए हमे उद्योग धधो मे भी समाज के निचले दर्जे से काम आरम्भ करना चाहिए। भारत गावो मे बसता है। इसलिए गावो की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अथवा यो कहे कि हमे अपनी औद्योगिक व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि देश मे कोई आदमी बेकार या बेरोजगार न रहे। यत्रोद्योग हमारे सब आदमियो को रोजगार नही दे सकते। यह ठीक है कि कल कारखानो में लगे हुए आदमियो को अन्य श्रमजीवियो की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है, परन्तु सामूहिक दृष्टि से यह लाभकारी न होकर हानिकर ही है। प्रथम तो कल-कारखानो के वातावरण मे मजदूरों का रहनसहन ऐसा होता है कि अन्य मजदूरो की अपेक्षा अधिक वेतन पाने पर भी वे कुछ अधिक सुखमय जीवन नही बिता पाते। दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि किसी हाथ-धधे में एक हजार मजदूर लगे हैं

---

*'झड्डा' के भू-यज्ञ-जयन्ती अक (सितम्बर ५२) से सकलित।

और एक रुपया रोज की कमायी कर लेते हैं, तो अगर कारखाने के चलने से इनका धंधा नष्ट होकर केवल सौ आदमियों को काम मिलता है तो नौ सौ आदमियों की बेकारी का विचार करके इस परिवर्तन को किसी प्रकार लोकहितकारी नहीं कहा जा सकता, चाहे कल कारखाने में लगे सौ आदमियों की रोजाना आय तीन-तीन या चार चार रुपये ही क्यों न हो।

**उद्योगो का लक्ष्य उत्पादन मे वृद्धि नहीं, अधिक से अधिक लोगो को रोजगार देना है**—कुछ आदमी यह कह दिया करते हैं कि यन्त्रोद्योगो अर्थात् कल-कारखानों से उत्पादन मे खूब-वृद्धि होती है, इसलिए देश मे उन्हे बढाना चाहिए। परन्तु सोचना यह चाहिए कि हमारा लक्ष्य उत्पादन मे वृद्धि करना है या अधिक से जनता को रोजगार के रूप मे उन्हें भोजन-वस्त्र देना और उनकी निर्धनता या कगाली दूर करना है। भारतवर्ष मे इस समय दो करोड़ आदमी ग्रामोद्योगो मे काम कर रहे हैं। इनमे वे लोग सम्मिलित नहीं हैं जो कृषि-कार्य को करते हुए अपने अवकाश के समय ग्रामोद्योग का कार्य करते हैं। ये सब लोगकाम मे लगे रह तथा दूसरो को भी यह काम मिले इसके लिए यदि यन्त्रोद्योगों और ग्रामोद्योगो मे से किसी एक को चुनना है तो अवश्य ही ग्रामोद्योग को स्वीकार करना होगा। इसका एक मुख्य कारण यह है कि यन्त्रोद्योगो की व्यवस्था करने मे बड़ी धन-राशि की आवश्यकता होती है, जो बडे-बडे पूँजीपति ही लगा सकते हैं, जब कि ग्रामोद्योगो के लिए यह बात नहीं होती, उनके लिए आवश्यक साधन सहज ही जुटाये जा सकते हैं। अस्तु, जब कि उद्योग धन्धो का लक्ष्य अधिक से अधिक जनता को रोजगार देना हो तो अर्थव्यवस्था मे ग्रामोद्योगो अर्थात् छोटे पैमाने के उद्योगो को ही प्रमुखता मिलनी चाहिए।

**योजनाकारों की भूल**—प्राय. अधिकारी बडी बड़ी योजनाएँ बनाते और बडे पैमाने के कहे जाने वाले उद्योग-धन्धों की ओर

आकर्षित रहते हैं, वे ऊपर कही हुई बात की उपेक्षा करते हैं। भारत मे यही हो रहा है। जैसा कि श्री मगनभाई देसाई ने दूसरी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योग-विकास के प्रश्न पर 'हरिजन सेवक' मे कहा है, 'योजनाकार छोटे पैमाने के उद्योगो के इस मुख्य और अनोखे गुण को समझ गये हैं कि उनमे कम पूँजी की जरूरत होती है और वे तत्काल विशाल मात्रा मे राष्ट्र को रोजाना उपयोग की चीजे दे सकते हैं। लेकिन उन उद्योगो के बारे मे जो सबसे महत्व की बात योजनाकार भूल जाते हैं, वह यह है कि वे भारी सख्या मे लोगो को काम देने की शक्ति रखते हैं और खरीद-शक्ति का न्यायपूर्ण बॅटवारा करने का उम्दा गुण भी रखते हैं। इसके अलावा, ये उद्योग प्रजा के ऐसे भाग की हालत को सुधारते हैं, जिसकी तरफ सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए।'

**व्यापार-वृद्धि का भ्रम**—कुछ आदमी चाहते हैं कि हमारे देश का व्यापार खूब बढे, उन्हे छोटे पैमाने के उद्योगों की बात अच्छी न लगेगी, जिससे व्यापार का क्षेत्र या परिमाण सीमित होता है। परन्तु हम जरा विचार करे। आजकल व्यापार के नाम पर कितनी मुनाफेखोरी, लूट या शोषण हो रहा है। शहर वाले गॉवों का शोषण करते हैं, देश के औद्योगिक नगर आसपास के शहरो का शोषण करते हैं, और हरेक देश जहॉ तक उसका वश चलता है दूसरे देशो का शोषण करने को उत्सुक रहता है। उन्नत और औद्योगिक कहे जाने वाले देश अपना तैयार माल दूसरे देशो मे खपाने के लिए चाहे-जैसे उपायो से काम लेते हैं, और आपस मे एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति और तनातनी का वातावरण बना रहता है। इसलिए हमें व्यापार वृद्धि के भ्रम मे न पड कर छोटे पैमाने के उद्योगो को अपनाना चाहिए।

**ग्रामोद्योगो के सरक्षण की आवश्यकता**—छोटे पैमाने के उद्योग इतने उपयोगी होते हुए भी मिलो और कारखानों मे बने 'सस्ते'

सामान के सामने नहीं टिक सकते। [मिलों का सामान वास्तव में सस्ता नहीं है - यदि हम राज्य द्वारा दी हुई सहूलियतों आदि का विचार करें—पर हम यहाँ उसके विवेचन में नहीं जा रहे हैं।] उदाहरण के लिए हाथ करघे से बुना कपड़ा मिल में तैयार हुए सस्ते और सुन्दर कपड़े का मुकाबला कैसे कर सकता है? जब आदमी के सामने दोनों तरह का कपड़ा आता है तो साधारणतया वह मिल का ही पसन्द करता है। अब यदि सरकार हाथ-करघे के बुने कपड़े को कुछ सुविधाएँ या आर्थिक सहायता देकर किसी हद तक सस्ता करती है तो उससे भी उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिल के कपड़ों से तो महँगा ही रहने वाला है। फिर, सरकारी सहायता उसे कब तक मिल सकती है, और उसके बल पर वह कब अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य होगा? इसलिए अगर उसे जीवित रखना है तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मशीन और हाथ-करघे के बीच प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही न रहे। कुछ खास-खास प्रकार के कपड़े को बनाने के लिए केवल हाथ करघों को ही अनुमति रहे, बाजार में मिल के बने उस तरह के माल का प्रवेश निषिद्ध हो। क्रमश: इस नीति का क्षेत्र बढ़ाया जाय, अर्थात् हाथ करघे के कपड़े का एकाधिकार क्षेत्र बढ़ता जाय। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के बारे में विचार हो, खासकर मूल आवश्यकताओं खाने पहिनने आदि—की पूर्ति करने वाले पदार्थों को मिल के माल की प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षित कर दिया जाय।

यदि सरकार ऐसा कार्यक्रम अपनाने में असमर्थ हो तो लोकहितैषी सज्जनों को अपने-अपने क्षेत्र में मिलों के माल का बहिष्कार करके तथा ग्रामोद्योगी सामान के उपयोग का आग्रह करके क्रमश अनुकूल लोकमत निर्माण करना और लोकशक्ति जाग्रत करनी चाहिए। उनके द्वारा यथेष्ट प्रयत्न होने पर सरकार को भी इस ओर ध्यान देना पड़ेगा।

**यन्त्र मात्र का विरोध नहीं**—यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी है। कुछ लोगो का ख्याल है कि सर्वोदय व्यवस्था मे यन्त्रो का कोई स्थान नही। यह धारणा गलत है। गाँधी जी ने कहा है—'मेरा विरोध यन्त्रो के सम्बन्ध मे फैले दीवानेपन के साथ है, यन्त्रो के साथ नही। परिश्रम की बचत इस हद तक की जाती है कि हजारो को आखिर भूखा मरना पडता है, और उन्हे बदन ढकने तक को कुछ नही मिलता। समय और परिश्रम का बचाव करके मुट्ठी भर आदमी धनी हो बैठे, यह मेरे लिए असह्य है। मैं तो चाहता हूँ, हर एक का समय और परिश्रम बच जाय, सबको खाना मिल सके, सब पहन-ओढ सके सर्वोदय हो। यही मेरी अभिलाषा है। आज यन्त्रो के कारण लाखो की पीठ पर मुट्ठी भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उन्हे सता रहे हैं, क्योंकि इन यन्त्रो के चलाने के मूल मे लोभ है, तृष्णा है, जन कल्याण की भावना नही है।'

**यन्त्रो के उपयोग की मर्यादा**—अस्तु, सर्वोदय व्यवस्था मे यन्त्र मात्र का विरोध नही हैं, हाँ, इसमे यह विचार करना होता है कि किस प्रकार के यन्त्रो का उपयोग, कैसे कार्य के लिए किया जाय। इस दृष्टि से यन्त्रो के चार भेद किये जा सकते हैं—मारक, तारक, सहायक, और समय-साधक। (१) तोप, बन्दूक, बम आदि विनाशकारी यन्त्र मारक हैं। इनका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। जिन यन्त्रो से आदमी की बेरोजगारी बढती है, तथा बैलो का काम छिनता है, वे भी इसी श्रेणी मे आते हैं। इस दृष्टि से कपड़े, चीनी, चावल या, दाल या आटे आदि की मशीनों और ट्रेक्टरों का उपयोग साधारणतया नहीं किया जाना चाहिए। ट्रेक्टरो का उपयोग विशेष आवश्यकता के समय नयी भूमि को तैयार करने के लिए,किया जा सकता सकता है। (२) जिन यन्त्रों से आदमी और बैल आदि पशु उत्पादक

कार्य करते हैं, वे तारक यन्त्र हैं, जैसे चर्खा, करघा, कोल्हू, चर्खी, हल, आदि। इनका यथेष्ट उपयोग किया जाना चाहिए। (३) जिन यन्त्रों से ग्रामोद्योगी यन्त्र बनाने में सहायता मिलती है, वे सहायक यन्त्र हैं, जैसे लुहार, बढ़ई आदि के औजार बनाने में काम आने वाले बड़े यन्त्र। इनका आवश्यकतानुसार उपयोग किया जाना चाहिए। (४) यातायात, सामान या सम्वाद भेजने में जिन यन्त्रों से समय की बचत होती या सुविधा मिलती है, वे समय-साधक या गत्युत्पादक यन्त्र हैं। जैसे रेल, जहाज, मोटर, घड़ी, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि। इनका उपयोग सोच समझ कर करना चाहिए, अर्थात् उसी दशा में होना उचित है, जब इससे अभीष्ट उद्देश्य सिद्ध होता हो। केवल शौकीनी, आरामतलबी आदि के लिए इनका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई यन्त्र शाश्वत रूप से ग्राह्य या अग्राह्य नहीं ठहराया जा सकता। एक यन्त्र का उपयोग एक परिस्थिति में हानिकर होते हुए भी दूसरी परिस्थिति में लाभकारी हो सकता है, इस प्रकार उनका उपयोग देश-काल का विचार रखकर ही करना उचित है।

**विशेष वक्तव्य**—स्पष्ट है कि नयी समाज-रचना में यन्त्रोद्योगों का सर्वथा बहिष्कार करने की बात नहीं है। वे रहेंगे, परन्तु विशेष परिस्थितियों में, और परिमित सीमा तक। इस विषय में कुछ अन्यत्र भी लिखा गया है। यहाँ इस बात पर जोर देना है कि सर्वोदय विचार-धारा वाले समाज में खेती और छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रधानता रहेगी। इसके कारण ऊपर बताये जा चुके हैं।

---

## तीसरा खंड

# व्यक्ति का विकास

आखिर, हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पडोसियो पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय, या उनकी राजी खुशी से दी हुई मदद न ली जाय। ख्याल यह है कि सब आजाद होगे और सब एक दूसरे पर अपना असर डाल सकेगे।

—गाँधी जी

मेरे निकट आदमी से ऊपर और कोई नहीं है। मेरे लिए मानव और केवल मानव ही सब वस्तुओ और विचारो का निर्माता है, सबसे बड़ा जादूगर है। भविष्य मे वही प्रकृति का पूर्ण स्वामी होगा। हमारी दुनिया मे सुन्दरतम वस्तुएँ मानव के श्रम द्वारा निर्मित है, उसी के हाथो ने उसे गढ़ा है। हमारे सब विचार आदि श्रम पर ही आधारित है, इस बात का ज्ञान हमे दस्तकारी, कला और विज्ञान के इतिहास से हो जाता है। मै मानव के आगे सिर झुकाता हूँ, क्योकि उसके विचार और उसकी कल्पना की मूर्तियो के सिवा न मुझे ससार मे कुछ दिखायी देता है, न महसूस होता है।'

—अज्ञात

## पंद्रहवां अध्याय

# व्यक्ति और समाज

इस तरह की समाज-रचना सम्भव और वांछनीय है, जिसमे समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास का अधिकतम अवसर मिल सके, जिसमें समाज को प्राप्त सभी साधनों का संतुलित उपयोग इस विकास के लिए हो सके।

—जवाहिरलाल जैन

व्यक्ति और समाज दोनो एक दूसरे पर आश्रित, एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे की उन्नति के लिए है। अत. दोनो का चरम विकास ही समन्वयवाद का लक्ष्य है।

—'पांचजन्य'

मनुष्य सामाजिक प्राणी है—मनुष्य अकेला रह कर अपना निर्वाह भी नही कर सकता, उसे जीवित रहने के लिए समाज मे रहना होता है। उसे अपने जन्म के बाद काफी समय तक माता-पिता की सहायता और संरक्षण की आवश्यकता बनी रहती है। ज्यो-ज्यों वह बडा होता है, वह दूसरे लोगो के सम्पर्क मे आता है। उसे अपनी भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरो के सहयोग और संगति की जरूरत होती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन उसके लिए अनिवार्य है।

व्यक्ति और समाज, दोनो का एक-दूसरे के लिए उपयोग—ऊपर कहा गया है कि अकेले रहने की दशा मे मनुष्य का

जीवन-निर्वाह नही हो सकता। इसके अतिरिक्त वह अकेला रहते हुए अपना विकास भी नही कर सकता। विकास का यथेष्ट अवसर उसे सामाजिक जीवन मे ही मिलता है। उदाहरण के लिए यदि हम अकेले रहें तो हम किससे प्रेम का व्यवहार करेंगे, किस प्रकार भ्रातृत्व, त्याग, अक्रोध, क्षमा या सत्य आदि का परिचय देंगे। मनुष्य के इन गुणों की वृद्धि और विकास में उसे सामाजिक जीवन से बहुत सहायता मिली है।

दूसरी ओर, व्यक्तियों की उन्नति और विकास से समाज को बहुत लाभ हुआ है। समय-समय पर कुछ विशेष प्रतिभाशाली तेजस्वी महापुरुषों ने सामाजिक कुरीतियों को मिटाया, रूढियों और परम्पराओं का संशोधन किया, नयी मान्यताएँ स्थापित की, जनता को अंधकार से प्रकाश के पथ पर आगे बढाया, जिससे आवश्यक सुधार होकर सामाजिक प्रगति हुई। इस तरह व्यक्ति और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है, प्रश्न यह है कि इनके इस आपसी सम्बन्ध की क्या मर्यादा रहे।

**व्यक्ति और समाज की मर्यादा, (१) व्यक्ति समाज के लिए**—एक विचारधारा यह है कि समाज साध्य है, व्यक्ति उसके लिए साधन मात्र है। जैसी परिस्थितियाँ या समाज होता है, वैसा वह बन जाता है, उसके जीवन में जो नैतिक या आध्यात्मिक मूल्य होते हैं उनमे खास उसका भाग नहीं होता, उनका मुख्य कारण तत्कालीन आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियाँ होती हैं। व्यक्ति पर सामाजिक (आर्थिक, राजनैतिक आदि) वातावरण का प्रभाव पड़ता है और इससे उसमें विविध गुण-दुर्गुण, अच्छाई और बुराइयाँ आ जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि खाद्य पदार्थों की कमी हो, तो हरेक उसे लेने के लिए बेसब्र रहता है, उसकी इच्छा होती है कि पहले मुझे मिल जाय, और इसके लिए उसे चतुराई, चालाकी, जोर-जबरदस्ती, झूठ,

चोरी, आदि का उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु पैदावार खूब बढ जाने पर आदमी को यह भरोसा रहता है कि मेरी आवश्यकता पूरी होने मे कोई सशय नही है। उसे अपने लिए लेने की कोई जल्दी नही होती और कोई ऐसा वैसा उपाय काम मे लाने की जरूरत ही नही रहती। यहाँ तक कि वह दूसरे आदमियो मे उस चीज को बाटने मे बहुत उदारता आदि का परिचय देता है। इसी प्रकार परिस्थिति-परिवर्तन से मनुष्य के व्यवहार मे परिवर्तन होने के अन्य उदाहरणो का विचार किया जा सकता है। इस विचारधारा को प्रधानता देने वालो का कथन है कि आम तौर से आदमी अपने देश-काल से बहुत भिन्न नही रहता। समाज की परिस्थिति बदलने से व्यक्ति मे स्वय सुधार हो जाता है, इसलिए समाज की ओर ही हमारा ध्यान रहे, व्यक्ति उसके अधीन उसका एक अग है, वह समाज के लिए है, उसकी स्वतन्त्रता या विकास का कोई प्रश्न ही नही।

यह विचार-धारा थोडे समय से ही फैली है, और खासकर यूरोप से आयी है, अब तो यह भारत आदि मे भी जोर पकड रही है।

**(२) समाज व्यक्ति के लिए है**—दूसरी विचारधारा प्राचीन है। इसके अनुसार व्यक्ति प्रधान है। समाज आखिर व्यक्तियो से ही बनता है। समय-समय पर ऐसे व्यक्ति होते रहते है, जिनमे विशेष प्रतिभा या साहस आदि होता है। वे समाज की प्रचलित रूढियो या सस्कारो के प्रति विद्रोह की आवाज उठाते हैं, समाज का नेतृत्व करते हैं, पुरानी परम्पराओ और मान्यताओ को बदल डालते हैं और समाज का कायाकल्प करके नया निर्माण कर देते हैं। इस प्रकार समाज का स्वरूप बहुत कुछ उसके व्यक्तियो पर निर्भर है इस विचार-धारा के अनुसार जैसे व्यक्ति होगे, वैसा ही समाज बनेगा। इसलिए व्यक्ति अपने सुधार और उन्नति के लिए

जैसा आवश्यक या उचित समझे प्रयत्न करे। वह अपना व्यवहार या कार्यप्रणाली निश्चित करे। समाज का उस पर नियन्त्रण बहुत सीमित अर्थात् कम से कम रहना चाहिए। व्यक्ति को अपने व्यवहार में अधिक से अधिक स्वतंत्रता रहनी चाहिए। वे अपना भला-बुरा स्वयं सोच सकते हैं। समाज का विशेष हस्तक्षेप अनुचित है।

**दोनों विचारधाराएँ एकांगी हैं**—उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण अपूर्ण तथा एकांगी हैं। पहली विचारधारा के कार्यरूप में आने से जहाँ परिस्थितियाँ बदल गयी, वहाँ भी व्यक्ति नहीं बदला। आर्थिक अनुकूलता और सुविधाओं वाले क्षेत्रों में भी आदमी में ईर्ष्या-द्वेष, परिग्रह की भावना, अधिकारों की भूख बढ़ी है।

दूसरी विचारधारा की प्रधानता के परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि भारत में अनेक व्यक्ति अपने नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के कारण बहुत ऊँचे उठे, संसार भर में उन महापुरुषों को प्रशंसा और प्रतिष्ठा है। उनसे समाज भी कुछ प्रभावित तो हुआ परन्तु उन महापुरुषों की संख्या और ऊँचे स्तर की तुलना में हमारे जन-साधारण का नैतिक या आध्यामिक धरातल ऊँचा नहीं उठा। बात यह हुई कि इन महापुरुषों ने अपनी व्यक्तिगत साधना के लिए चाहे जितना परिश्रम और त्याग किया तथा कष्ट सहा, उन्होंने समाज की स्थिति को सुधारने और सामाजिक समस्याओं को सामूहिक रूप से हल करने की प्रायः उपेक्षा ही की।

**दोनों के समन्वय की आवश्यकता**—आवश्यकता है कि इन दोनों विचार-धाराओं में से किसी एक को न अपना कर दोनों का सुन्दर समन्वय किया जाय। बात यह है कि यद्यपि सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्रभावित करती हैं, और मनुष्य का आचरण एक सीमा तक उनके अनुसार होने की सम्भावना होती है, परन्तु

इससे अधिक तत्व की बात यह है कि परिस्थिति को बनाने वाला व्यक्ति ही होता है, उनके निर्माण मे उसका बड़ा भाग होता है। इसी प्रकार यद्यपि व्यक्ति से समाज बनता है, लेकिन समाज का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़े बिना नही रहता। इसलिए न तो व्यक्ति की ही उपेक्षा की जानी चाहिए और न समाज की ही, वरन् दोनो का ही सम्यक् ध्यान रखा जाना चाहिए।

**गाँधी जी का विचार**—आधुनिक काल मे इस ओर विशेष ध्यान दिलाने का, और दोनो विचारधाराओ के समन्वय के आधार पर एक नया जीवन-दर्शन उपस्थित करने का श्रेय गाँधी जी को है। उनका कथन है—'मै व्यक्ति की स्वतत्रता की कद्र करता हूँ, लेकिन आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओ से निभाना सीख कर ही अपनी वर्तमान हालत तक पहुँच सका है। नियन्त्रणहीन व्यक्तिवाद जगल के जानवरो का नियम है। मनुष्य ने सामाजिक प्रतिबन्ध और व्यक्तिगत स्वतत्रता के बीच सतुलन करना सीखा है। पूर्ण समाज के हित के लिए सामाजिक प्रतिबन्धो को अपने आप मान लेना व्यक्ति और समाज दोनो के लिए लाभदायक है।' गाँधी जी मानते थे कि 'आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी।' उनके मतानुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व ही सारी प्रगति का मूल है अतः किसी भी दशा मे व्यक्ति की स्वतत्रता का अपहरण नहीं किया जाना चाहिए। समाज-सगठन व्यक्ति के हित-साधन के लिए है न कि व्यक्ति इस सगठन के लिए, हाँ, व्यक्ति का सर्वथा अनियन्त्रित रहना ठीक नही, उसे समाजहित की दृष्टि से अपने ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिए। इस प्रकार एक सीमा तक समाज का भी उस पर नियन्त्रण रह सकता है, पर उस नियन्त्रण की मात्रा तथा प्रकार ऐसा हो कि व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतत्रता बनी रहे। इसी

विचार में से-अर्थ रचना और राज्य-रचना के विकेन्द्रित होने की बात निकली है, जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

**समाज-व्यवस्था का उद्देश्य, व्यक्ति का विकास**—ध्यान में रखने की बात यह है कि समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्रत्येक कार्य या योजना का लक्ष्य व्यक्ति का विकास होना चाहिए, उनसे व्यक्तियों को विकास का अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए। समाज का कोई भी साधन ऐसा न हो जो सब के उपयोग के लिए खुला न हो कोई संस्था ऐसी न हो जिसका उपयोग करने से कोई व्यक्ति जाति, धर्म या वर्ण आदि के कारण वञ्चित रहे। इस प्रकार जो बात—वह राजनैतिक क्षेत्र की हो या आर्थिक की, शिक्षा सम्बन्धी हो या संस्कृति और धर्म सम्बन्धी-व्यक्ति के विकास में बाधक हो, वह कदापि मान्य नहीं है, उसे किसी भी आधार पर प्रोत्साहन न मिलना चाहिए। इस समय विविध क्षेत्रों में अनेक वाद चल रहे हैं, और नये-नये प्रचलित हो रहे हैं। हमारे लिए प्रत्येक वाद की कसौटी व्यक्ति का विकास या मानवहित है जो इस पर ठीक नहीं उतरता, वह त्याज्य है।

**व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति-विकास की आवश्यकता**—सर्वोदय दृष्टि से समाज-व्यवस्था में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति-विकास पर खास जोर देने की जरुरत है। 'प्रत्येक व्यक्ति में कोई-न कोई गुण प्रकट होता ही है। उनको अपने सम्पूर्ण रुप में प्रकट होने की सुविधा देना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र का तात्पर्य उच्छृंखलता भी नहीं है, अपनी इच्छानुसार समस्त कार्य करना भी नहीं है। स्वातन्त्र्य का अर्थ संयम और मर्यादा है, जिससे विकास का प्रवाह अग्रसर हो। नदी के कूल किनारे ठीक न रहने पर वह आगे बढ़ने के बजाय चारो ओर फल कर नष्ट हो जाती है। व्यक्ति का स्वातन्त्र्य का अर्थ समाज-व्यवस्था के नियमों का यथाविधि पालन करने के साथ-साथ अपनी विशिष्ट

प्रतिभाओं को समाज-हिताय अभिव्यक्त करना है। समाज-व्यवस्था वही सर्वश्रेष्ठ हो सकती है जो व्यक्ति के स्वाभाविक विकास की गति को बढाये, घटाये नही। आज ऐसी ही समाज-व्यवस्थाएँ दिखायी देती है, उनका भली भाति सस्कार कर उन्हे व्यक्ति-हितकारक बनाना होगा।'*

**आदर्श समाज-व्यवस्था**—समाज की आदर्श व्यवस्था मे दो बाते आवश्यक हैं—(१) व्यक्ति के कारण अथवा कुछ व्यक्तियों से बनने वाले गुटो या सम्प्रदायो के कारण सम्पूर्ण समाज या मानवता के हितो पर चोट न पहुँचे और ससार का यह सगठन देश और राष्ट्रो की परिधियो को पार करता हुआ क्रमश. विश्व भर मे व्याप्त हो सके, (२) समाज अथवा राज्य, तथा जाति, विवाह, परिवार आदि सस्थाओ के कारण व्यक्ति के विकास मे बाधा न पहुँचे वरन् सहायता ही मिले, व्यक्ति अकेला रह कर जितनी गति से अपने विकास की साधना कर सकता है, उससे अधिक गति उसे इन समाज-सस्थाओ के कारण प्राप्त हो सके तथा इस प्रकार व्यक्ति का अपना और सामूहिक रूप से समाज का मोक्ष-साधन शीघ्र से शीघ्र लाया जा सके।*

**व्यक्ति स्वतत्र होने के साथ मर्यादित भी हो**—जब हम व्यक्ति स्वातत्र्य की बात कहते है तो उसमे व्यक्ति के मर्यादित या अनुशासित रहने की बात आ ही जाती है। पर कुछ लोग स्वातत्र्य का बहुत सकुचित अर्थ लेते है। उस दृष्टि से हम कहेगे कि व्यक्ति आदर्श समाज मे स्वतत्र भी हो और मर्यादित भी। व्यक्ति अपने समाज-हित सम्बन्धी कर्तव्य का निरन्तर ध्यान रखे, और स्वेच्छापूर्वक, बिना राज्य आदि के किसी बाहरी दबाव के, अनुशासित हो—इस विषय पर हमने अपनी 'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' पुस्तक मे खुलासा लिखा है। उसे यहाँ न दोहरा कर एक दूसरी बात का उल्लेख करना

---

*'पाञ्चजन्य'-समाज-भूमिकाक, १५ मार्च १९५४

है। अपने यहाँ (भारत) की प्राचीन समाज-व्यवस्था में यही आदर्श पाया जाता है। विचार की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर व्यवहार में वह सामाजिक नियमों से बँधा हुआ है। चाहे विचारों में कोई नास्तिक ही क्यों न हो, पर यदि वह सामाजिक नियमों का पालन करता है, तो उसे बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि इसमें कोई त्रुटि हुई और विचारों में वह आस्तिक ही क्यों न हो, तो फिर उसके लिये समाज में स्थान नहीं। कहा जा सकता है कि 'विचारों के अनुसार ही तो व्यवहार होता है।' किसी अंश तक यह सत्य भी है। पर साथ ही यह बात भी है कि समाज का भी विचारों पर प्रभाव पड़ता है। १

व्यक्ति और समाज दोनों का सुधार एक साथ हो सकता है—यह प्रश्न हो सकता है कि क्या व्यक्ति और समाज दोनों का सुधार एक साथ हो सकता है इसका उत्तर है कि अवश्य हो सकता है, और खासकर भारत में इस समय इसी दिशा में प्रयत्न हो रहा है। आचार्य कृपलानी ने कहा है—'विनोबा जी अपने गुरु का अनुसरण करते हुए व्यक्ति और समाज का सुधार एक साथ करना चाहते हैं। प्राचीन संतों ने कहा है, अपने आपको सुधारो तो दुनिया सुधर जायगी।' गाँधीजी ने कहा—'दुनिया को सुधारने की प्रक्रिया में ही अपने आपको सुधारो।' यह द्विविध क्रिया साथ-साथ चलनी चाहिए। एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया में मदद मिलनी चाहिए। तुम समाज को जैसा रूप देना चाहते हो, उसके लिए अपने हृदय-परिवर्तन से आरम्भ करो और अनुरूप कर्म से उसके अनुकूल मनोवृत्ति का विकास करो। गाँधीजी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए जिस आन्दोलन का सत्याग्रह के द्वारा उपक्रम किया, उसे वे आत्म-शुद्धि का प्रयोग कहा करते थे। वही विनोबा की धारणा है। गाँधीजी की तरह वे भी चाहते हैं कि व्यक्तिगत जीवन का सामाजिक जीवन के साथ नीति-धर्म के आधार पर सामंजस्य हो। २

---

१ 'सिद्धान्त' १३-६-५५

२ 'भूदान-यज्ञ' १६ सितम्बर'५५

## सोलहवाँ अध्याय

# आत्म-निर्माण

पहला पूँजीवादी तो हमारा शरीर है, जो पूँजीवादी समाज मे पला हुआ है। इसको आलस चाहिए, भोग चाहिए।' इस-लिए पहली लड़ाई तो इसके खिलाफ लड़नी होगी।

—विनोबा

'सभ्यता तब ही सभ्यता कहला सकती है, जब उसके अन्दर सब के भले की इच्छा सब तरफ समाई हुई हो। इतना ही नहीं, हरेक के अन्दर दूसरे के साथ प्रेम और हमदर्दी हो और उसी के अनुसार अमल हो। यह अमल ठीक तभी हो सकता है जब हम मे अपने ऊपर काबू हो, खान-पान और सब चीजो मे एक बीच का रास्ता हो, हिम्मत हो, बरदाश्त हो और अपना फर्ज पूरा करने की जबरदस्त लगन हो।

—डा० भगवानदास

आज ऐसी हालत पैदा हो गयी है कि समाज मे परिवर्तन अगर नहीं होता तो मुल्क का अन्त निकट है। लेकिन प्रथम परिवर्तन तो अपना ही करना होगा। प्रारम्भ भी 'प्रथम पुरुष' एक वचन से ही किया जाता है।

—रविशकर महाराज

**समाज-रचना और आत्म-निर्माण**—समाज-रचना के प्रसग मे हम बहुत सी बातो का विचार किया करते हैं, उनकी आवश्यकता हम भली भाँति जानते हैं। पर हम प्राय. भूल जाते हैं कि समाज-रचना की तह मे आत्म-निर्माण का प्रश्न प्रमुख है।

एक विचारणीय दृष्टान्त, इस विषय में, आगे लिखी घटना से मिलता है। एक आदमी सवेरे नाश्ते के समय अखबार पढ़ रहा था। उसका लड़का पास में बहुत शोर मचा रहा था। उसे चुप करने के लिए पिता ने अखबार का एक पन्ना, जिस पर दुनिया का नक्शा था, टुकड़े-टुकड़े कर दिया और लड़के से कहा कि उन टुकड़ों का मेल बैठाये। लड़के को सचित्र वर्ग-पहेलियों आदि का शौक था, उसने थोड़ी देर में दुनिया का नक्शा ठीक जोड़ दिया। पिता को बहुत आश्चर्य हुआ और उसने लड़के से इसका रहस्य पूछा। लड़के ने जवाब दिया कि मैंने देख लिया था कि दुनिया के नक्शे की पीठ पर एक आदमी का चित्र है। मैंने आदमी को ठीक जोड़ दिया, बस दुनिया ठीक हो गयी।

लड़के का अन्तिम वाक्य कितना अर्थ-पूर्ण है। इसमें कितनी सच्चाई है। घर हो, परिवार हो, समाज हो, देश या दुनिया हो—किसी को ठीक करने के लिए आदमी को ठीक होना होगा। हर तरह की नव-रचना के वास्ते व्यक्ति का निर्माण सब से पहले जरूरी है सब कुछ आत्म-निर्माण पर निर्भर है।

समय के सदुपयोग की आवश्यकता—आत्म-निर्माण के लिए सत्संग, सद्विचार, सद्ग्रन्थावलोकन आदि कई बातें बहुत उपयोगी हैं। पर इन सब की कुंजी समय का सदुपयोग कही जा सकती है। प्रायः हम इस बात को भूले ही रहते हैं। हम किसी से बातें करने लगते हैं तो कितना ही समय ऐसी गपशप में लगा देते हैं, जिससे न हमें कुछ लाभ होता है और न दूसरों को ही। इसके विपरीत, अनेक दशाओं में उससे हमारे मन को दूषित भोजन मिलता है। हम अख-बार पढ़ने बैठते हैं तो बहुधा उसकी अनावश्यक बातों को देखने में भी बहुत सा समय गवां देते हैं। कभी मनोरंजन के लिए ताश या शतरंज खेलने बैठते हैं तो फिर यह सुधि नहीं रहती कि उसमें

आखिर कितना समय लगाना चाहिए। कितने ही आदमी तो यह कहते पाये जाते हैं कि साहब! समय नही कट रहा है, इसे किसी तरह काटना है। ( भला ऐसे आदमियो को जीवित रहने का क्या अविकार है ? )

**डायरी और आत्म-निरीक्षण**—हमारे जीवन का एक-एक दिन एक-एक घंटा, एक-एक मिनट बहुमूल्य है। हमे अपना कुछ भी समय ऐसा न बिताना चाहिए जिसे नष्ट हुआ या खराब गया कहा जा सके। इसके लिए हमे अपने ऊपर कडी पहरेदारी करनी चाहिए। इसका एक उपाय यह है कि डायरी या रोजनामचा रखे, और उसमे अपने समय का ठीक-ठीक हिसाब दर्ज करते जायँ प्रातःकाल उठने से लेकर रात को सोते समय तक कौन-कौनसा कार्य कितनी देर किया है—शौच, स्नान, भोजन, विश्राम, मनोरजन, पुस्तकावलोकन, आजीविका उपार्जन आदि। इसके साथ ही यह विचार भी होता रहे कि कहाँ-कहाँ हमने समय की फिजूलखर्ची की है, जिससे आगे इस विषय मे अधिक सावधान रह सके। कुछ दिन इस प्रकार लगातार अभ्यास करने से आगे के लिए समय मे मितव्ययिता रखने का अभ्यास हो जायगा।

इसके अतिरिक्त डायरी लिखने से एक लाभ और है। इसके द्वारा हमे अपने पिछले कार्यों और विचारो का पता लगाता है, अपनी त्रुटियो और आकाक्षाओ का ज्ञान होता है। उससे हम अपने इस समय के जीवन मे सुधार करने की बाते मालूम होती है। आत्म-निरीक्षण के ऐसे प्रसगो से हमारा अनुभव बढ़ता है और आगे की जीवन यात्रा के लिए अधिक तैयार हो सकते हैं। श्री 'सूर्य' ने लिखा है—'जीवन रूपी दर्पण मे यदि भूत काल के कार्यों को देखा जाय तो उससे वर्तमान सुधर जाता है और यदि वर्तमान काल देख लिया जाय तो उससे भविष्य-सुधर जायगा। इसलिए अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को सामने दिखते रहने के लिये दैनिकी (डायरी) को साधारण रूप से उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।'

प्रत्येक कार्य मे लक्ष्य का ध्यान रहे—आत्म निर्माण के अभिलाषियों को अपना प्रत्येक काम करते समय अपने लक्ष्य का बराबर ध्यान रखना चाहिए। वे भोजन। करे तो स्वाद के लिए नहीं वरन् इसलिए कि वह शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक है, और हमारी कार्य करने की शक्ति को बढ़ाता है, वे किसी से बातचीत करे, तो ऐसी ही करें जिससे उनका तथा दूसरो का हित हो, वे पुस्तके या अखबार ऐसे ही पढे जिनसे उन्हे कुछ वास्तविक ज्ञान या प्रेरणा मिले।

**विशेष वक्तव्य**—हमे समय-समय पर हम अपने विकास के लिए कुछ नियम बनाते रहना चाहिए, कुछ सकल्प या व्रत करने चाहिए और कुछ कुछ समय गुजरने पर यह भी जाच करनी चाहिए कि हमने उस दिशा मे कहाँ तक अमल किया है, हमारे आचरण में कहाँ तक दोष रहा है और उसे किस प्रकार भविष्य मे सुधारा जा सकता है। हम कुछ बातो मे असफल रहे हो तो भी कोई हर्ज नहीं है, हमे उससे शिक्षा लेकर अपने भावी व्यवहार को अधिक अच्छा बनाने के लिए कमर कसनी चाहिए। कोई विशाल भवन एकदम नहीं बन जाता, आत्म-निर्माण भी धैर्य और निरन्तर प्रयत्न चाहता है। एक-एक कदम का, एक एक मजिल का अपना महत्व ह ।

——

सत्रहवाँ अध्याय

# बड़ा आदमी : बड़ा सेवक

जो व्यक्ति धन सपदा मे विभोर और मग्न हो, उसके महान पुरुष होने की मै कल्पना नहीं कर सकता। जैसे ही मै किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमता की बातो का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पडता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरो द्वारा गरीबो के दोहन पर अवलम्बित है, स्वीकार कर लिया है।

—प्रेमचन्द

धन और अधिकार से महान बनने वालो की कद्र करना समाज के कष्टो को बढ़ा लेना तथा सच्चे सेवको को नष्ट कर देना है। किसी आदमी की कद्र करने का अर्थ ही यह है कि वह समाज की ऐसी सेवा कर रहा है जिसका बदला हम भौतिक दृष्टि से नहीं चुका पा रहे है। जिस मनुष्य की जितनी निस्स्वार्थ जन-सेवा हो, उसी के अनुरूप उसे महान मानना चाहिए।

—स्वामी सत्यभक्त

**मनुष्य का प्रधान गुण मानवता**—'समाज मे बडा आदमी कौन ?' इस प्रश्न पर विचार करने के लिए पहले सोचना चाहिए कि वास्तव मे आदमी किसे कहना ठीक है। क्या केवल मनुष्य का शरीर धारण करने से ही कोई व्यक्ति मनुष्य कहा जाने का अधिकारी हो जाता है ? भारतीय नीतिकार ने कहा है—'आहार, निद्रा, भय और

मैथुन—ये तो पशुओं और आदमियों में एक से ही पाये जाते हैं। मनुष्यों में एक धर्म ही विशेष होता है, धर्म के बिना मनुष्य पशु के समान हैं। धर्म से अभिप्राय यहाँ किसी मत, मजहब या पन्थ से नहीं है। इसका अर्थ है मानवता या मानव धर्म। मानव धर्म के विषय में विविध देशों के विचारकों और नीतिज्ञों ने समय-समय पर लिखा है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय शौच और इन्द्रिय-निग्रह आदि—बताये हैं। गांधीजी ने जबकि वे यरवदा जेल में में थे, ग्यारह व्रतों की व्याख्या की थी, वे सर्वोदय दृष्टि से धर्म के तत्व कहे जा सकते हैं। वे ये हैं—(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) अस्वाद, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) अभय, (८) अस्पृश्यता-निवारण, (९) शरीर-श्रम (१०) सर्वधर्म समभाव और (११) स्वदेशी। जिस सीमा तक मनुष्य में ये गुण हों, उसी सीमा तक वह वास्तव में मनुष्य है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य मात्र से और यथा-सम्भव अन्य प्राणियों से भी आत्मीयता का अनुभव करेगा, आवश्यकता अनुसार सब की सेवा और सहायता करेगा।

**वर्तमान अवस्था में मानवता की कमी**—स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में इन गुणों की बहुत कमी है। हम शिक्षक, लेखक, कवि, कलाकार, दुकानदार पंडित, पुजारी, व्यवसायी, राजकर्मचारी, राज-नीतिज्ञआदि चाहे जो कुछ कहे और माने जाते हों, हम अपने व्यवहार में मानवता का परिचय बहुत कम देते हैं। इसी दृष्टि से एक कवि कहता है—

मर्दों से गो यह भरी सर जमीं है।
वले देखने को इनसान नहीं हैं॥

इसी प्रकार श्री रमेश 'मुक्त' ने कहा है—

मुझको इनसान कहाने का अधिकार नहीं।
इनसान कहाने का अधिकार न तुम को है॥

मानो मैंने तुमने मानव के जन्म लिया,
औ' मानव के घर मे ही हम मर जायगे।
लेकिन भूले क्यो मुझको तुमसे प्यार नहीं,
मानव रूपी मानव से प्यार न तुमको है।।

इस कविता मे आगे श्री 'मुक्त' जी कहते हैं—

उस दिन मानव कहलाने का गौरव होगा,
जब पीड़ित की सेवाओ मे जुट जायँगे।
दो सीढ़ी नीचे आएँगे ऊपर वाले,
नीचे वाले दो सीढ़ी ऊपर आएँगे।।

बडा आदमी कौन ? ऐसे धनी लोग बड़े आदमी नहीं—अब हम यह विचार करे कि समाज मे बडा आदमी किसे कहना होगा। हमारे सामने एक आदमी घर के खूब सम्पन्न है। खाने-खर्चने की कुछ कमी नही। सर्दी के मौसम की तो बात ही क्या, गर्मी मे ये सात बजे बिस्तर से उठते हैं। चाय-बीडी का शौक करके आराम से टट्टी जाते हैं। फिर, नौकर की सहायता से दत-मजन और स्नान होता है। यदि नौकर न हो तो ये हाथ-मुँह धोने से ही सतोष कर लेंगे। इस कार्य से छुट्टी पाने पर कपडा पहनने का कार्य-क्रम बनता है। इनके पास दर्जनो जोडे कपडे हैं। पाँच-सात तो धोबी के यहाँ पडे रहते हैं, कुछ घर मे खूटियो पर टगे होते हैं और शेष ट्रक और आलमारियो मे भरे रहते हैं। बाहर जाते समय तो इन्हे सोचना पडता है कि कल जिस प्रकार के कपडे पहने थे, आज उससे भिन्न प्रकार के होने चाहिए। उसमे कोई सलवट आदि न हो, कलफ या स्त्री अच्छी तरह हुई हो—यह बात घर के पहनावे मे भी देखी जाती है। इसकी बहुत-कुछ जिम्मेदारी कपडा पहनाने वाले नौकर पर है, यों कभी-कभी ये उसके निर्णय को बदल भी देते हैं, जिससे नौकर

को यह ज्ञान होता रहे कि मालिक सर्वथा हमारे ही अधीन नहीं हैं।

अब इनके भोजन की बात लें। चाय के साथ ये जो कुछ लेते हैं, वह नाश्ता नही गिना जाता। वह तो शौच जाने का नुस्खा होता है। नाश्ता तो बाद में अलग होता है, उसमें कुछ मिठाई और कुछ नमकीन होता है। नाश्ता करने में स्नान का कोई बंधन नहीं है। जी में आया तो स्नान करने से पहले ही नाश्ता कर लिया जाता है। भोजन करीब ग्यारह बजे होता है। उसमें साग-भाजी, आचार-मुरब्बे आदि मिला कर छोटी बडी एक दजन प्लेट तो होनी ही चाहिए। भोजन में क्या क्या पदार्थ बनाये जायें, यह सोचने का काम रसोइये का है। उसे तरह तरह के खाने के पदार्थ तयार करके इनके सामने रखने चाहिए—खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन, चटपटे, मसालेदार। उन सब में से जो जितना इन्हे पसन्द आयेगा, खा लिया जायगा, शेष छोड़ दिया जायगा। जूठन छोडने का तो रिवाज ही है। अस्तु, तीसरे पहर कुछ जल-पान, शाम को भोजन होगा। चाय-बीड़ी आदि तो समय-समय पर चलती ही रहती हैं, इसकी कोई सीमा मर्यादा नही, कभी अपने लिए नहीं तो यार-दोस्तों के वास्ते ही हो जाती है। इन्हें प्राय. सब लोग बडा आदमी कहते हैं। क्या ये बडे आदमी हैं? सम्भव है ये खुद अपने आप को बडा आदमी मानते हों, पर हमारा हृदय इन्हें बडा मानने से इन्कार करता है।

क्या इन शिक्षितों को बडा आदमी कहा जाये?, नहीं—एक महाशय हैं। ये विश्वविद्यालय की उच्चतम परीक्षा उत्तीर्ण हैं, और कई अन्य संस्थाओं की भी साहित्य-पचानन और विज्ञान-रत्न आदि उपाधियों से विभूषित हैं। स्मरण शक्ति गजब की है। कई बडी-बडी प्रतियोगिताओं में प्रथम स्थान और उच्च सम्मान प्राप्त किया है। विविध विद्वानों के बडे-बडे वाक्य ये सहज ही उद्धृत कर सकते हैं। जब कि भारत में साक्षर व्यक्ति सौ में से पन्द्रह हैं तो

इनकी टक्कर का आदमी औसतन हजारो मे एक होगा। इन्हे भी अपनी विद्वता पर गर्व है। ये कह देते हैं कि मेरी पढाई मे इतना धन खर्च हुआ है तो क्या मै केवल दो सौ ढाई सौ रुपये महीने पर काम करूँ ? मेरी कम से कम कीमत पाँच सौ रुपया माहवार तो होनी चाहिए जिसके साथ एक अच्छा आरामदेह निवास स्थान, नौकर और यातायात की नि:शुल्क व्यवस्था भी हो। यह स्पष्ट ही है कि गाँव मे यह प्राप्त नही हो सकती। पर गाँव तो मेरे योग्य हैं ही नहीं, क्या मै इतना विद्वान होकर गाँवो के गवारो मे अपना जीवन नष्ट करूँगा !'

क्या आप इन्हे 'बडा आदमी' कहेगे ? ऐसे बडे आदमी से किसी का क्या भला होना है ? ये तो समाज के लिए, और अच्छी नौकरी न मिलने की दशा मे—जो बडे सौभाग्य और तिकडम से ही मिल पाती है—अपने परिवार और स्वय अपने लिए भी, भार होते हैं। ये बात-बात मे नौकर का आसरा ताका करते हैं। थोडी दूर हैन्ड-बैग ले चलना भी इनकी शान के खिलाफ है। ऐसे आदमी को सर्व-साधारण द्वारा भले ही कुछ बडा आदमी माना जाय, हमारी दृष्टि से इन्हे बडप्पन का मान दिया जाना सर्वथा अनुचित है।

**क्या दान-पुण्य आदि महत्ता का माप है ?** नही—अनेक आदमी देखते हैं कि उनकी बस्ती मे अमुक सेठ बहुत दान-पुण्य करता रहता है, ब्राह्मण-भोजन कराता है या भिखारियों को सदाव्रत देता है। वे कहते हैं कि 'वह बडा आदमी है। अफसोस ! हमारे पास ऐसा करने के साधन नही। हमारी माली हैसियत ऐसी नहीं कि इस प्रकार का व्यय-भार उठा सके। हमे अपनी सब शक्ति और समय अपने निर्वाह-कार्य मे ही लगा देनी होती है, हमे इतनी फुर्सत नहीं कि दो चार घण्टे पूजा-पाठ कर सके या भगवान के नाम की माला जपा करे। तीर्थ-यात्रा भी तो पैसे का खेल है और यदि पैदल यात्रा करे तो इतने दिन खाने को चाहिए। यहाँ तो रोज कमाना

और रोज खाना है, ऐसी दशा में कुछ दिन यात्रा में बिना कुछ कमाई किये बिताना कैसे हो सकता है।' इस प्रकार के विचारों के कारण बहुत से आदमी बड़ी हीनता की भावना अनुभव करते हैं। यह धारणा भ्रममूलक है। दान-पुण्य पूजा-पाठ और तीर्थ-यात्रा आदि मनुष्य के बड़प्पन के लिए अनिवार्य नहीं, खासकर जब आदमी इन कार्यों के लिए धन-संग्रह करने के वास्ते पर-पीड़न, शोषण और भ्रष्टाचार करता है। साधारणतया इन बातों के बिना सम्पत्ति जमा नहीं होती। स्पष्ट है कि सम्पत्ति, शिक्षा और दान-पुण्य आदि को बड़प्पन का माप नहीं माना जा सकता।

फिर, बड़ा आदमी कौन? लोकसेवा करने वाला—बड़ा आदमी वह है जो अपने समय और शक्ति का उपयोग अपने भोग-विलास, दम्भ, अहंकार, मान-प्रतिष्ठा की वृद्धि आदि में न कर, उस समाज के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन में लगाता है जिसमें वह रहता है, और जिससे उसने अपने विकास और पालन-पोषण में बहुत सहायता पायी है। समाज के उपकारों को भूल कर उसकी सेवा द्वारा अपना ऋण न चुकाने वाला व्यक्ति ऐसा ही है जैसे कोई आदमी ऋण-दाता से उधार लिये हुए ऋण के बल पर अपनी शान बघारता है। इस प्रकार लोक-सेवा मनुष्य मात्र का अनिवार्य कर्तव्य है। जो व्यक्ति यह नहीं करता वह बड़ा आदमी तो क्या, वास्तव में आदमी कहलाने का भी अधिकारी नहीं। जो आदमी दूसरों को अपने समान समझता है, उनके दुःख-सुख की चिन्ता करता है, दूसरों का कष्ट निवारण करने का भरसक प्रयत्न करता है, अपने आप को जाति वंश, पद, उपाधियाँ धन आदि के आधार पर ऊँचा नहीं मानता, जिसके हृदय में सब के लिए प्रेम और स्नेह होता है, जो दूसरों से सेवा लेता कम है और उन्हें सेवा देता अधिक है—वही वास्तव में बड़ा आदमी है।

**विशेष वक्तव्य**—इस प्रकार के वास्तव मे बडे आदमी कहे जाने योग्य व्यक्तियों का समाज मे समय-समय पर शुभागमन होता रहा है। कौन नही जानता कि अवतार या महापुरुष माने जाने वाले कृष्ण ने अश्वमेध-यज्ञ के समय घोडे को नहलाने, अतिथियो के पॉव धोने और उनकी जूठी पत्तल उठाने का काम स्वेच्छा और हर्ष पूर्वक किया था। आधुनिक काल में गॉधी जी इतने व्यस्त होते हुए भी रोगियों और कोढियों की सेवा करने के लिए समय निकाल लेते थे। ऐसे बडे आदमी जिस समाज मे यथेष्ट सख्या मे हो, वह धन्य है। आवश्यकता है कि हमे ये अधिक से अधिक मिले, और हम उनसे क्रियात्मक शिक्षा ले।

---

## अठारहवाँ अध्याय

# हमारे तीर्थ : जीवन सुधार के केन्द्र

पुरानी व्यवस्था बदलती है और नयी उसकी जगह ले लेती है। ईश्वर की इच्छा अनेक प्रकार से पूरी होती रहती है, जिससे ऐसा न हो कि कोई अच्छी रीति कालान्तर मे जनता के लिए हानिकारक हो जाय।

—टेनिसन

तीर्थों का निर्माण—स्थान-स्थान और समय-समय पर नये-नये तीर्थों का निर्माण होता रहता है। यद्यपि कुछ तीर्थों का महत्व चिर-काल तक बना रहता है, जनता की श्रद्धा किसी मे क्रमश. कम और किसी मे उत्तरोत्तर अधिक होती रहना साधारण बात है।

किसी स्थान के तीर्थ बनने का एक प्रारम्भिक कारण बहुधा उसकी प्राकृतिक स्थिति भी होती है। नदी, पहाड, वन, उपवन आदि के दृश्यो से किसी स्थान की शोभा सहज ही बढ जाती है। ऐसे स्थान मे जब कोई पुण्यात्मा पुरुष कुछ समय तक लगातार रह जाता है, और अपने सेवा और लोकोपकार के कृत्यो से जनता को कृतार्थ कर देता है तो वह स्थान दूर-दूर के आदमियों के लिए तीर्थ बन जाता है। यात्री वहा दर्शन करने आते हैं और वहा की भूमि को पवित्र मानते हुए उनकी वन्दना करते हैं, वहा की धूल अपने मस्तक पर लगाते हैं।

इस प्रकार जितने भी तीर्थ हैं, उन्हे तीर्थ का पद देने का श्रेय किसी न किसी सेवाभावी और परोपकारी महापुरुष को है। भारत की बात ले। अयोध्या को राम ने तीर्थ बनाया, द्वारिका या मथुरा वृन्दावन

को कृष्ण ने प्रतिष्ठा दी, वृन्दावन को पीछे गौराग महा-प्रभु ने गौरवान्वित किया, हस्तिनापुर को युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के निवास से ख्याति मिली, गया को गौतमबुद्ध जैसे तपस्वी के निवास-स्थान होने का सौभाग्य प्राप्त है। हमारे जमाने मे महात्मा गाधी एक तीर्थ-निर्माता हो गये है। खासकर साबरमती और सेवाग्राम को जो तीर्थ पद -मिला है, वह आपकी ही बदौलत है। वर्धा के निकट पवनार गाव सन्त विनोबा के परमधाम आश्रम के कारण विख्यात है ।

**महापुरुषो की महिमा**—सज्जन, सत और सेवाभावी व्यक्ति जहा कही निवास करते हैं, वही स्थान पवित्र और दर्शनीय माना जाने लगता है। मानव जाति का यह दुर्भाग्य रहा है कि समय-समय पर इसने महापुरुषो की बात ठीक नही समझी, उन्हे कष्ट दिया तथा उन्हे चोर और डाकुओ के लिए बनाये हुए जेलो या कैदखानो मे बन्द किया। परन्तु महापुरुषों ने अपने उच्च भावो के कारण उन जेलों को भी अपना आश्रम ही माना। उनके उदाहरण से दूसरे सज्जनो को प्रेरणा मिलती है। वे भी उत्साह-पूर्वक कष्टो का स्वागत करते हैं और कर्तव्य-पालन से नही झिझकते। ऐसे ही भाव से कवि कहता है—

> बदमाश जेल माने, मानू मगर खुदा-रा।
> तीरथ अगर मिले यह, हिन्दोस्तान की खातिर ॥

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन मे जवानो की तो बात ही क्या, अनेक बूढो और लडको ने तथा सुकुमार समझी जाने वाली महिलाओ ने जानबूझ कर ऐसे सत्कार्य किये तो तत्कालीन शासको की निगाह मे अपराध माने जाते थे, और जिनके लिए कैद की सजा दी जानी निश्चित थी। उस समय जेलो को जेल न कह कर कृष्ण मन्दिर या तीर्थ-यात्रा का स्थान कहा जाता था और ये तीर्थ जगह-जगह थे।

**वर्तमान तीर्थो के दोष दूर करने की आवश्यकता**—हमारे देखते-देखते जहाँ कुछ नये तीर्थ बन रहे हैं, कितने ही पुराने तीर्थो का महत्व घटता जा रहा है। बात यह है कि कोई आदमी कितना ही हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, उसके शरीर में नया रक्त बराबर बनता रहना चाहिए, अन्यथा उसका ह्रास होना स्वाभाविक है। कोई घर बहुत समय तक पूर्वजों की कमाई के भरोसे अपनी प्रतिष्ठा नहीं बनाये रख सकता। इसी तरह तीर्थो का तीर्थ-पद तभी तक सुरक्षित समझा जाना चाहिए जब तक वहां साधु-स्वभाव सन्त महात्माओं की परम्परा बनी रहे, साधारण जनता का आपसी व्यवहार प्रेम और सेवा-भाव का रहे। आज दिन हमारे अनेक तीर्थो में लोक-जीवन बहुत चिन्तनीय है। यदि हम उनका तीर्थ-पद बनाये रखना चाहते हैं तो हमें इस स्थिति में आमूल सुधार करना चाहिए। हमारे तीर्थ ऐसे होने चाहिए कि यात्री को उसमें प्रवेश करते ही यह अनुभव होने लगे कि मैं अब कुछ अच्छे वातावरण में आ गया हूँ। तीर्थवासियों के आचार व्यवहार से यात्रियों को अच्छे विचारों और कार्यो की ऐसी प्रेरणा मिलनी चाहिए कि घर लौटने पर वह अपने साथ कुछ अच्छे संस्कार ले जाय और अपने मिलने-जुलने वालों पर अच्छा प्रभाव डाल सके।

**तीर्थो सम्बन्धी आदर्श**—इस प्रकार हमें तीर्थो के सम्बन्ध में यह आदर्श रखना चाहिए—

१—तीर्थ के सब निवासियों का, और खासकर उन लोगों का व्यवहार प्रेम और सेवामय होना चाहिए, जिनसे यात्रियों को काम पड़ता है।

२—तीर्थो में खाने-पीने की चीजें शुद्ध, बेमिलावट और उचित मूल्य पर मिलनी चाहिए। यात्रियों को ठहरने के लिए स्थान काफी और स्वास्थ्यप्रद हों। तीर्थो में मादक पदार्थों के सेवन का निषेध होना चाहिए। शराब, गांजा, भंग, चरस तमाखू (बीड़ी सिगरेट) चाय,

कहवा आदि से परहेज होना चाहिए। यात्री इसकी तैयारी करके ही तीर्थ मे जाय।

३—तीर्थों मे चचलता, उत्तेजना कामुकता आदि भावनाओ का प्रदर्शन करने वाले सिनेमा और नाटक तथा जुआ आदि फैलानेवाले कार्निवाल आदि वर्जित होने चाहिए। तीर्थों मे साहित्य ऐसा मिले जिससे पाठको की ज्ञान-वृद्धि के साथ नैतिक भावनाओ का भी विकास हो।

४—यात्रियो का पथ-प्रदर्शन करने वाले तथा उन्हे आवश्यक सहायता देने वाले सज्जन तथा सस्थाएँ यथेष्ट होनी चाहिए। पडे पुजारी आदि का चरित्र और व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए।

**तीर्थ जीवन-सुधार के केन्द्र बने**—हम बहुधा गर्व किया करते हैं कि हमारे अमुक तीर्थ मे अमुक पर्व के अवसर पर इतने आदमी एकत्र हुए जितने ससार मे कही एकत्र नही होते। गत वर्ष कुभ के अवसर पर प्रयाग मे ही पचास साठ लाख यात्री इकट्ठे हुए थे। कौन कह सकता है कि इनमे से कुछ खासी सख्या के आदमियो ने यहाँ अपना जीवन सुधारने की सामग्री प्राप्त की! दूसरी ओर, यह तो स्पष्ट ही है कि अनेक पुरुष-स्त्रियो को ऐसी, असुविधा कष्ट तथा अर्थ-हानि सहनी पडी, जो उन्हे बहुत समय तक याद रखनी पडेगी। हम उन लोगो की बात तो छोड ही देते हैं जिन्हे अपने प्रियजनो का वियोग सहना पडा। क्या ही अच्छा हो, हमारे तीर्थस्थानो का भी विकेन्द्रीकरण हो जाय, वे इन-गिनी जगहो में न हो कर जगह-जगह पर हो, जहाँ आदमी सहज ही आ जा सके, और यथेष्ट समय तक रह कर अपना जीवन सुधार सके।

---

उन्नीसवां अध्याय

# त्यौहार, आत्म-निरीक्षण के दिन

यह मानना पडेगा कि पर्वो का आरम्भ और विकास कुछ कहने, कुछ जताने और जानने की वृत्ति से ही किया गया होगा। आज उनका काम केवल जताना भर गया है, कुछ जानने और आगे बढने की वृत्ति इनमे नहीं।

—'पाच जन्य'

प्रतिज्ञा कीजिये कि हम अब से प्रदर्शन और कोलाहल द्वारा पर्व नहीं मनायेगे—प्रकाश इन बाहरी आखो को नहीं, हिये की आखो को चाहिए। हमारी खुशियॉ किसी की आखो की नींद नही छीनेगीं और हमारी स्वच्छन्दता किसी की स्वतत्रता की रेखा को छोटा नहीं करेगी। सर्वे भवन्तु सुखिन ।

—'योगी'

त्यौहार और मनोरजन—मनुष्य मनोरजन-प्रेमी है। अकसर आदमी भारी शरीर-श्रम करते हुए भी अपने मन-बहलाव की बाते किया करते हैं। औरतो के चक्की पीसते हुए गीत गाने की बात तो सब जानते ही हैं। शरीर-स्वास्थ्य के लिए मनोरजन की उपयोगिता मे कोई शका ही नहीं। इस वास्ते भी आदमी को जब अवकाश मिलता है और सुविधा होती है, वह मनोरजन करना चाहता है। प्राय हरेक समाज मे हफ्ते का कोई एक दिन या महीने की खास-खास तिथिया ऐसी निश्चित हैं, जिनमे आदमी को रोजमर्रा के

काम-धंधे से छुट्टी मिले। इसके अतिरिक्त तरह-तरह के त्यौहार-पर्व, उत्सव आदि भी निश्चित किये हुए है, तथा कुछ नये नये भी निश्चित होते जाते हैं, जब आदमी अपने साधारण व्यवसायिक कामों से कुछ मुक्त हो सामूहिक आमोद प्रमोद करे और आत्मचिंतन तथा अपने उत्थान की बात सोचे।

हमारे कुछ त्यौहार स्थानीय होते हैं, कुछ प्रादेशिक, और कुछ तो देशव्यापी होते है। हिंदुओ के त्यौहारो मे खासकर दीवाली, दशहरा होली और रक्षाबंधन हर जगह मनाये जाते है। राष्ट्रीय जागृति के साथ विविध महापुरुषो की जयन्तिया भी अधिकाधिक मनायी जाने लगी हैं।

**त्यौहारो का कार्य क्रम**—साधारणतया त्यौहार के दिन घरो की सफाई होती है, आदमी अच्छा साफ या बढिया कपड़े पहनते हैं, अच्छा पकवान या मिठाइया और फल आदि खाते है, मकानो मे रोशनी होती है, कुछ पूजा-पाठ होता है, खेलकूद या मनोरंजन के कार्यक्रम रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त हर एक त्यौहार के दिन कुछ कार्यक्रम और भी होते हैं। जलपान या मनोरंजन के कार्यक्रम मे हम अपने रिश्तेदारो या मित्रो का साथ चाहते हैं। हम उनके घर जाते है, और उन्हे अपने यहा बुलाते हैं।

इस प्रकार हमारे त्यौहारो का आनन्द हमारे परिवारो मे सीमित न रह कर कुछ बडे क्षेत्रो तक पहुँचता है। इस क्षेत्र का विस्तार हमारे सार्वजनिक संबंधो या आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। किसी परिवार मे बाहर के दो चार व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं, तो किसी मे सैकडो आदमी भी शामिल हो जाते है। तथापि बाहर के व्यक्ति प्रायः वही होते है, जिनमे हमारा कुछ विशेष व्यावहारिक संबंध होता है

**हमारी परीक्षा, सहृदयता की आवश्यकता**—त्यौहार के दिन हम लोग गरीबो को तथा ऐसे लोगो को जिन्हे हम अपने से नीचे दर्जे

का मानते है कुछ भोजन-वस्त्र आदि भी दे देते हैं। पर यह कार्य करते समय हम उन लोगों को अपनी बराबरी का नहीं मानते और उन्हें अपने त्यौहार के आनन्द में शामिल होने का अधिकारी नहीं समझते। हममें से कोई विरला ही ऐसा होगा जो त्यौहार के दिन यह सोचता हो कि हमारी बस्ती (गाँव या नगर) में कौन सा पुरुष, स्त्री या बालक ऐसा है जिसकी सामाजिक या आर्थिक स्थिति सबसे गिरी हुई है, और जिसे हमारे प्रेम और सेवा की सबसे अधिक आवश्यकता है। स्पष्ट है कि हममें मानवता या सहृदयता की बहुत कमी है। त्यौहार का दिन मानो हमारी परीक्षा का दिन है। उस दिन इस बात की जाँच होती है कि हमारी खुशी की लहर कहाँ तक जाती है। यह बडे वेग से चलती हुई मालूम होती है, पर जैसे रेगिस्तान का नाला थोडी ही दूर जाकर सूख जाता है, हमारे प्रेम का प्रवाह भी कुछ मित्रों और रिश्तेदारों तक ही पहुँच कर समाप्त हो जाता है। हम दिवाला निकाल बैठते हैं और मौन भाषा में सूचित करते हैं कि बस, अब हमारे पास देने को कुछ नहीं रहा। प्रत्येक बस्ती में कितने ही बालक बालिकाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें माता पिता का सुख प्राप्त नहीं होता, वे अपने आप को अनाथ और आश्रयहीन अनुभव करते हैं अफसोस! हम त्यौहार के दिन भी इन्हें ऐसा सोचने का मौका नहीं देते कि इस बस्ती में किसी के मन में हमारे लिए भी वात्सल्य है—माता-पिता का हृदय है। हमारी बस्ती में कितनी ही विधवा बहिनें ऐसी होंगी जिनका कोई भाई आदि उनकी सुध लेने वाला नहीं है। क्या हम अपने त्यौहार के दिन किसी ऐसी बहन को एक सहृदय भाई का प्रेम नहीं दे सकते?

और लीजिए। हमारे यहाँ कितने ही दीन-हीन क्षीणकाय और और निर्बल बूढे-बूढिया कमर झुकाए अपनी जिन्दगी का बोझा ढोते मिलते हैं। पर हमें उनकी ओर निगाह उठा कर देखने की फुरसत

ही कहा है ? हम अपनी खुशी मे मस्त हैं। त्यौहार का कार्यक्रम हमारे सामने है। उसमे ऐसी अच्छी बातो की गुजाइश नही।

हम आत्म-निरीक्षण करे, दीवाली का दिन—ऐसी बाते खासकर दीवाली के अवसर पर बहुत अखरती है, जिसे हम प्रकाश का त्यौहार कहते हैं। हम अपने व्यवहार पर विचार करे। हम बाहर प्रकाश फैलाने का विचार करते हैं, पर हम स्वय इतने अधकार मे रहते हैं कि हमे अपने नागरिक भाई-बहनो का हाल मालूम नही होता, अथवा हम जानबूझ कर अपने व्यवहार मे उस विषय के अज्ञानका ही परिचय देते हैं। दीपों का स्नेह (तेल) खर्च करने मात्र से हमारा मानवीय कर्त्तव्य पूरा नही हो सकता, हमे अपने हृदय मे स्नेह-भाव रखने और अपना अज्ञान-अधकार दूर करने का प्रमाण देना चाहिए।

दीवाली के दिन हम अपने बालको को कुछ पैसे दे देते है। और वे उन्हे पटाखो या फुलझडी आदि मे खर्च कर देते हैं। हम भी कह देते हैं, त्यौहार का दिन है, क्या हर्ज है, बालकों ने दो पैसे खराब कर दिये। हमे यह याद रखना चाहिए कि 'इन दो पैसो से एक आदमी की क्षुधा शात हो सकती है एक भूखी माँ के भूखे बच्चे के प्राण बचाये जा सकते हैं, और एक वस्त्रहीन की लज्जा निवारण मे सहायता हो सकती है। क्या दीवाली के दिन हम यह बात भूल जायँ ?

आज के दिन हम अपने जीवन का लेखा-जोखा करे। अब तक के जीवन मे, खासकर पिछली दीवाली से अब तक हमने अपना समय कहा कहा किस-किस कार्य मे बिताया। कौनसा कार्य करने योग्य था और कौनसा करने योग्य न था। रुपया बटोरने मे कितनी अनीति, अनाचार या दुर्व्यवहार किया। अब अगले वर्ष का स्थानीय

संस्थाओं का, राज्य का, तथा केन्द्र का आर्थिक बजट बनाने के समय हम अपने जीवन का नैतिक बजट बनावें। इसी अवसर पर विविध आर्थिक संगठनों और समितियों के सम्मेलन भी किये जा सकते हैं।

**विजयदशमी और होली**—विजय दशमी के दिन राजनैतिक कार्यकर्ता यह सोचें कि उनके कार्य व्यवहार में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं, निर्दलीय अर्थात् पक्षातीत राजनीति अर्थात लोकनीति की ओर कहाँ तक बढ़े हैं और किस प्रकार इस दिशा में और आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास-परिषदों के सम्मेलन भी इसी अवसर पर किये जासकते हैं, उनमें यह विचार हो कि वर्तमान इतिहास-ग्रन्थों में संकीर्ण राष्ट्रीयता और जातीयता या प्रादेशिकभावना को प्रोत्साहन देकर जो अनर्थ किया गया है, वह आगे न हो। भावी इतिहास-ग्रन्थ मानवता की भावना से ओतप्रोत हों।

होली के दिन सामाजिक भेद-भावों को दूर करने, अस्पृश्यता, वर्ण-भेद और जाति-भेद को हटाने के क्रियात्मक रूप पर विचार किया जाय। सामाजिक कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों, कुप्रथाओं आदि को भस्म करने का संकल्प हो। इसी दिन सभी सम्प्रदायों, जातियों या वर्णों के सहमिलन, सहभोज आदि का विशेष कार्यक्रम रखा जाय।

**स्वाधीनता दिवस**—१५ अगस्त के दिन हम सोचें कि क्या हमारा व्यवहार स्वतन्त्र व्यक्तियों जैसा है? हमारे कर्त्तव्यपालन में, दूसरे के प्रति आचरण में, लोभ-मोह के त्याग में कुछ विशेषता हुई? हमारे विवाह-शादी, हमारी होली-दिवाली, हमारे सिनेमा, हमारे खेल-तमाशे और मनोरंजन का रूप कुछ बदला? समाज में भ्रष्टाचार, रिश्वत खोरी, लड़ाई-झगड़े, मुकद्दमेबाजी, धोखेबाजी, छल-कपट कुछ कम हुआ?

क्या हमारे साहित्यकार, पत्रकार, प्रकाशक अपने तयीं कुछ अधिक ईमानदार हुए? क्या हमारे अफसर या अधिकारी वर्ग में हुकूमत की

भावना कम होकर सेवा का विचार बढ़ा ? क्या हमारा विद्यार्थी वर्ग उपाधियो की लालसा कम कर के वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक हुआ ? क्या दुकानदार और व्यापारी ने ग्राहको को ठगना और लूटना छोड दिया ? इन प्रश्नो का उत्तर समाधानकारक न हो तो राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन होने पर भी हमारा मन अभी दासता मे ही जकडा है। हम अपना उद्धार करे।

गाधी जयन्ती—गाधी जयन्ती के दिन ( २ अक्तूबर ) हम कुछ समय गाधी जी के लेखो या प्रवचनो को पढे यह तो ठीक है, पर साथ मे विचार करना चाहिए कि अवतारी पुरुप गाधी जी ने हिसा और पोषण से ग्रस्त समाज का जो अहिसक क्रान्ति का मार्ग दिखाया और ग्रामोद्योगो के प्रतीक-रूप खादी अपनाने की अपील की, यहाँ तक कि गाधी-जयन्ती को चर्खा जयन्ती का नाम देने का आग्रह किया, उस दिशा मे हम कितना अग्रसर हो रहे हैं। गाधी जी दो तीन छोटी-छोटी धोतियो, दो-तीन अगोछो और दो चद्दरो से काम चलाते थे, हम कपडे का कितना अनावश्यक खर्च कर रहे है। क्या हम उनसे कुछ सादगी और सयम की शिक्षा लेगे।

विनोबा जयन्ती—विनोबा जयन्ती (११ सितम्बर ) के दिन विनोबा का कुछ गुणगान कर लेना काफी नही है। हम सोचे कि यह हमारा सौभाग्य है कि गाधी जी के बाद उनका विनोबा जैसा शिष्य हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। वे भूदान-यज्ञ मूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रान्ति के सन्देश वाहक हैं। हमने अपने-अपने क्षेत्र मे भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान और जीवनदान के सम्बध मे क्या तथा कहाँ तक कर्तव्य पालन किया, और आगे क्या करने वाले है। प्रायः समकालीन आदमियो को अपने युग के महापुरुषो के विषय मे यथेष्ट विश्वास नही होता, क्याहम भी उनकी उपेक्षा करते रहेगे ?

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय भावना का तकाजा है कि हमारे त्यौहार और जयन्तियां हमारे लिए कुछ घंटों के दिल-बहलाव या मनोरंजन के दिन न होकर हमारी जीवन-यात्रा की आगे की मंजिल तय करने में उसी प्रकार सहायक हों, जैसे तीर्थ स्थान को जाते हुए यात्री के लिए फासला बताने वाले मील के पत्थर होते हैं।

---

चौथा खंड

## परिवार, गाँव, और संसार

हम दुनियाँ को एक सम्पूर्ण इकाई बनाने के लिए प्रयत्न-शील है। उसे सम्पूर्ण इकाई बनाने मे एक बड़ी भारी कमी रह गयी है। विज्ञान की व्यापकता और क्रान्ति की अन्तर-राष्ट्रीयता के अनुरूप मनुष्य की मनोवृत्ति नही बनी है। सारी दुनियाँ एक विश्व-कुटुम्ब बनना चाहती है। इसके सामने राह साफ नही है। यह राह गाधी ने बतलायी और आज विनोबा उस पर चल रहे है। ' ' क्रान्ति की प्रक्रिया मे आज पूर्णता आ रही है। क्रान्ति की प्रक्रिया मे ही मानवीय मूल्यो का समावेश गाधी विनोबा ने कराया है।

—दादा धर्माधिकारी

हम एक ऐसा समाज बनाना चाहते है जो जात-पात तथा वर्ग-भेद से मुक्त होगा। वहां किसी तरह का, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या जातीय शोषण नही होगा। आज हमे यह स्वीकार करना होगा कि हमारे समाज मे आर्थिक तंत्र से अन्याय, सामाजिक प्रतारणा, जातीय ईर्ष्या-द्वेष, साम्प्रदायिक भावना, प्रान्तीयता के झगड़े और भाषाओ के प्रति विद्वेष की भावना जैसे भयकर दोष है। ये सारी बाते हमारी योग्यता, हिम्मत और बुद्धि के लिए चुनौती है। अगर हम एक सास्कृतिक समाज के रूप मे जीना चाहते है तो सभ्य तरीको के द्वारा शीघ्र ही हमे इन बुराइयो से मुक्ति पाना होगा।

—डा० राधाकृष्णन

## बीसवाँ अध्याय

# नारी की प्रतिष्ठा

स्त्री अहिंसा की अवतार है। अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम, और असीम प्रेम का अर्थ है असीम कष्ट-सहन की शक्ति यह शक्ति पुरुष की मा—स्त्री के सिवाय अधिक से अधिक मात्रा मे और कौन दिखा सकता है।

—विनोबा

जगत मे ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम माँ है।

—एनी बिसेंट

स्त्री पुरुष से औसतन कमजोर है, इसलिए पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह स्त्री जाति का सरक्षण करे, लेकिन स्त्री अहिंसा, कोमलता, सेवा और प्रेम का प्रतीक है, वह जगज्जननी का रूप है, अत पुरुष का स्वाभाविक आदर उसके प्रति होना चाहिए।

—जवाहरलाल जैन

स्त्री पुरुष की पूरक है, उसके उत्थान की आवश्यकता—समाज के लिए स्त्री और पुरुष दोनों ही अनिवार्य हैं। विश्व की सृष्टि और विस्तार के वास्ते दोनों ही आवश्यक हैं। पुरुष यदि जनक है तो स्त्री जननी है। समाज की आधारभूत इकाई परिवार है, और परिवार की कल्पना स्त्री के अभाव मे की ही नही जा सकती। घर वाली, गृहिणी, गृह-स्वामिनी स्त्री है, बिना स्त्री के घर सुनसान रहता है। बहिन के रूप मे, पत्नी के रूप मे, मा के रूप मे परिवार और

समाज में स्त्री का स्थान कितने महत्त्व का है, यह स्पष्ट है। ऐसी दशा में पुरुष की कोई सामाजिक उन्नति या प्रगति उसी दशा में सार्थक होगी, जब स्त्री को भी उनमें यथेष्ट भाग मिले।

**साहित्य में स्त्री जाति के साथ अन्याय**—आश्चर्य और खेद का विषय है कि इस ओर कुल मिला कर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कहा जाता है, आरम्भ में इतिहास-काल से पूर्व, स्त्री को बहुत महत्त्व प्राप्त था। उस बात को अर्सा बीत गया, उसकी तो कहानी ही बाकी है। जहाँ तक अब इतिहास उपलब्ध है, उसी की बात लें। कहीं-कहीं कुछ स्थानों में कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में कुछ समय भले ही स्त्री की प्रधानता रही हो, या इस समय भी हो, साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि चिरकाल से स्त्रियों को हीन माना गया है। प्रत्येक देश का धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक साहित्य देख डालिए, उसमें अपवाद-रूप कुछ स्थलों को छोड़कर स्त्रियों के लिए निन्दात्मक वाक्य ही भरे पड़े हैं। समाज का नेतृत्व करने वाले, पथ-प्रदर्शन करने वाले अनेक महापुरुषों ने भी स्त्री जाति के साथ घोर अन्याय किया है। बात यह है कि अधिकतर साहित्यकार पुरुष ही हुए हैं, और और उन्होंने अपनी विषय-वासना सम्बन्धी कमजोरियों को स्त्री जाति के ही सिर मढ़ दिया है। ऋषि, तपस्वी, त्यागी पुरुषों ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ कहते समय संयम और मर्यादा नहीं रखी है। सम्भव था, यदि स्त्रियों के हाथ में कलम होती तो कुछ दूसरी ही तरह चित्र सामने आता। अस्तु, स्त्रियों के विषय में कुछ कहते या लिखते समय यह नीति-वाक्य हमें याद रखना चाहिए—

> नारी-निन्दा मत करें नारी नर की खान।
> नारी से नर होत हैं ध्रुव-प्रह्लाद समान॥

**स्त्रियों से दैनिक व्यवहार**—भारत में—जिस भारत में मनु का यह वाक्य लोगों की जबान पर है कि जहाँ स्त्रियों की आदर-पूजा होती

है, वहाँ देवताओ का निवास होता है—स्त्री जाति की क्या दशा रही है, और इस समय तक बनी हुई है? कन्या के जन्म पर घर मे कैसी दुख-सूचक घटा छा जाती है, और लडके के जन्म पर कैसी खुशियाँ मनायी जाती हैं! दोनो के पालन-पोषण, शिक्षण आदि मे कितना भेद-भाव होता है। हमारी कई सामाजिक रीति-रस्म ऐसी हैं कि कन्या हमारे वास्ते जन्म भर को भार बनी रहती है। उसकी विवाह-शादी मे घर की चिरकाल की संचित पूँजी समाप्त हो जाती है, अनेक माता-पिता तो इस अवसर पर इतने ऋण-भार से दब जाते हैं कि सारी उम्र उन्हे उससे मुक्ति नही मिलती। इसकी कल्पना ही इतनी चिन्ता जनक होती है कि कई बार कोमल-हृदय कन्याएँ अपने प्राणो की आहुति देकर अपने माता-पिता की दारुण समस्या हल करने का प्रयत्न करती हैं। विधवाओ को कैसा कष्टमय जीवन बिताना पडा है। अनेक बार वे अपने प्राण गँवा कर ही उससे छुटकारा पा सकी है। अब भी स्थिति मे विशेष सुधार नही हुआ है। पिछले वर्षों मे पर्दा, बाल-विवाह, बेमेल विवाह स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह आदि के विषय मे लोगों के विचार कुछ बदले हैं, इस दिशा मे कुछ कानून भी बने हैं, तथापि अभी बहुत काम करना बाकी है।

**श्रम मे स्त्री-पुरुष भेद**—स्त्री का विशेष कार्य यह है कि वह सन्तान का—भावी नागरिकों का—समुचित पालन पोषण करे। इस कार्य का बडा महत्व है। इससे स्त्रियो को आवश्यक शिक्षा दीक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें इस की तैयारी करनी चाहिए। इसके लिए स्त्रियो को अधिकतर घर पर रह कर घरेलू काम करना होता है। बाहर रह कर आजीविका-प्राप्ति का कार्य करना पुरुषो को अधिक सुविधाजनक होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही होना चाहिए कि घर के काम का महत्व कम है, अथवा आर्थिक विषयो मे स्त्रियाँ सर्वथा पुरुषो के अधीन रहे। आवश्यकतानुसार स्त्रियो को सार्वजनिक

कार्य करने तथा आजीविका प्राप्ति के अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए, वरन् उसके लिए उन्हें यथेष्ट सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

स्त्री-पुरुष का सग साथ है। जीवन-यात्रा में कुछ काम स्त्रियाँ करें और कुछ पुरुष करें, यह बात सिद्धान्त से बुरी नहीं, पर हमने स्त्रियों को जो काम दिये हैं, उन्हें हम हीन समझते हैं और पुरुषों के करने योग्य नहीं मानते—यह सर्वथा अनुचित है। हमारे दिमाग से यह विचार हटना बहुत जरूरी है कि चक्की-चूल्हा, झाड़ बुहारी लगाना ये काम स्त्रियों के ही करने के हैं, और पुरुष उन्हें करे तो उसका अपमान है। अब से कुछ वर्ष पहले तक सूत कातने को भी स्त्रियों का ही काम समझा जाता था। गाँधी जी ने अपने उदाहरण और उपदेश से लोगों की यह भ्रान्त धारणा हटादी है। अब तो अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति सूत कातने में हर्ष और गौरव मानने लगे हैं। वास्तव में पुरुषों को घर के सभी कामों का अभ्यास और रुचि होनी चाहिए, जिससे आवश्यकता होने पर वे उन्हें आसानी से और प्रसन्नता-पूर्वक कर सकें। तभी स्त्री-पुरुष का यथेष्ट सहयोग हो सकेगा।

स्त्रियों को पुरुषों से पारिश्रमिक कम दिया जाना भी अनुचित है। उनकी आवश्यकताओं तथा परिस्थिति का विचार करके उन्हें अधिक नहीं तो पुरुषों के समान तो मिलना ही चाहिए।

**विदेशों में स्त्रियों की स्थिति**—यूरोपीय देश सामाजिक विषयों में और स्त्रियों का आदर-मान करने में बहुत आगे बढ़े हुए माने जाते हैं। पर वहाँ की स्थिति से भी सतोष नहीं किया जा सकता। स्त्रियों को अपने अधिकार पाने के लिए जो घोर सघर्ष करना पड़ा है, वह विचारवान पाठकों से छिपा नहीं। उन्हें आजीविका के साधन बहुत-कुछ प्राप्त हैं, तथा सभा समाजों में, यात्रा के समय सवारी में

उन्हे प्रथम स्थान दिया जाता है। पर ऐसी बातों से मूल समस्या हल नही होती। पुरुषो की हार्दिक सद्भावना चाहिए। उन देशो मे गत वर्षों मे युद्धो की प्रधानता रही है, और क्योकि उनमे पुरुषो का भाग अधिक होता है, इससे स्वभावतः स्त्रियों का दर्जा हीन हो गया। बहुत पुरानी बात नही है, हिटलर, मुसोलिनी आदि ने उन्हे सन्तान पैदा करने के यन्त्र के रूप मे ही देखा—ऐसी सन्तान जो तोपो और बमो से नष्ट होने के लिए तथा दूसरो को नष्ट करने के लिए तैयार रहे। स्त्री जाति का यह कैसा मूल्याकन!

**स्त्री जाति की उपेक्षा का दुष्परिणाम**—यह स्पष्ट है कि अभी भी स्त्रियो को समाज मे जो स्थान मिलना चाहिए, वह अधिकाश मे नही मिला है। इसका परिणाम सभी भोग रहे हैं। घरों मे सुख शान्ति नही, कलह और सघर्ष है। हम अपने मनोविनोद का सामान घर से बाहर सिनेमा, नाटक, नाचघर, और क्लबो मे तलाश करते है। वह आखिर कितनी देर सुख दे सकता है। पुरुषों ने स्त्रियो को अपना जीवन-साथी और सहयोगी समझने के बजाय अपने भोग विलास का साधन मान लिया, और इसी दृष्टि से उनके शृगार और सजावट मे भाग लेने लगा। स्त्रियों ने इस बात की गहरायी मे न जाकर पुरुषो से मिलने वाले वैभव और विलासिता मे अपने को सुखी समझने की भूल की। नतीजा यह हुआ कि स्त्री और पुरुष दोनो ने अपनी मानवता खो दी, एक दूसरे के विकास मे सहायक होना छोड दिया। इससे समाज की प्रगति रुक गयी, कहना चाहिए वह अवनति की ओर बढती जा रही है।

**पुरुषो का कर्तव्य**—यदि पुरुष को कुछ समझदारी से काम लेना है, उसे समाज को भयकर क्षति से बचाकर सम्यक् विकास करना है, और स्वय अपना हित साधन करना है तो उसे स्त्री जाति के उत्थान मे भरसक योग देना चाहिए। वह स्त्री को अपना प्रतिद्वन्दी न माने,

और उसके लिये किये जाने वाले काम को एक उपकार, दया या कृपा के रूप मे न सोचे। स्त्री के कष्टो और असुविधाओ को दूर करने मे वह अपने ही कष्टो और असुविधाओ को दूर करता है, स्त्री के विकास से वह अपने विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। स्त्री मे सेवा, स्नेह और त्याग की अनुपम शक्ति है, अतः वह शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति करती रहे, इसमे पुरुष जहा जितना सहायक हो सके उतना होने की भावना पुरुष मे निरन्तर बनी रहनी चाहिए।

**स्त्रियो के ध्यान देने की बाते**—स्त्री भी यह बात ध्यान मे रखे कि पुरुष उसका निकटतम साथी है, पुरुष से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रतियोगिता करने मे नही, वरन् उसके साथ सहयोग करने मे ही उसका हित है। पुरुष ने उसके साथ अन्याय किया है पर पुरुष को बनाने वाली वह स्वय है। यदि वह अपने सतान मे अच्छे सस्कार डाले, उन्हें निर्भीक, दयालु और मानवता प्रेमी बनाएँ तो समाज का कायाकल्प ही हो जाय। स्त्रियो को पुरुषो के व्यवहार की शिकायतो मे न लगे रह कर स्वय अपने व्यवहार का यथेष्ट विचार करना चाहिए। कितनी सास हैं जो बहुओ को अपनी बेटी की तरह रखती हैं और कितनी बहुएँ हैं जो हृदय से सास को अपनी माता मानती हैं। अनेक जेठानियो का अपनी देवरानियो के साथ, ननदो का भोजाइयो के साथ जो बर्ताव होता है, वह बहुत आपत्तिजनक रहता है। इसमे सुधार होना चाहिए।

**विशेष वक्तव्य**—स्त्रियो मे शिक्षा—प्रचार हो रहा है, उनके मार्ग मे जो कानूनी रुकावटे हैं वे क्रमश हट रही हैं। इस प्रकार स्त्रियो की योग्यता और कार्य क्षेत्र बढ रहा है। आवश्यकता है कि स्त्रियाँ अपनी योग्यता और शक्ति का अपने निजी स्वार्थ-साधन या भोग-विलास के साधन जुटाने मे न लगा कर समाज-हित की दृष्टि से कार्य करे। स्त्री-समाज के उत्थान के लिए अधिक से अधिक महिलाओ को आगे

बढना चाहिये और मिशनरी भावना से अपनी आहुति देने के लिए तैयार होना चाहिए। वेश्या—वृत्ति को हटाने, स्त्रियो के अध-विश्वास दूर करने, मानवोचित्त जीवन बिताने की प्रेरणा देने मे स्त्रियाँ ही महत्वपूर्ण भाग ले सकती हं और उन्हे लेना चाहिए। भावी समाज-निर्माण के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। स्त्रियाँ अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करेगी तो समाज मे उनकी प्रतिष्ठा स्वय बहुत बढ जायगी।

---

इक्कीसवाँ अध्याय

# बालक, भगवान-रूप

बालक प्रकृति की अनमोल देन है, सुन्दरतम कृति है, सब से निर्दोष वस्तु है। बालक मनोविज्ञान का मूल है, शिक्षक की प्रयोगशाला है। बालक मानव-जगत का निर्माता है। बालक के विकास पर दुनिया का विकास निर्भर है। बालक की सेवा ही विश्व की सेवा है।

—यशीवर

**भगवान की विविध विभूतियाँ**—इस सृष्टि में लहलहाते पौधे, रंग-बिरंगे फूल, पत्ते और फल, बहती हुई नदियाँ, पहाड़ी झरने का प्रपात, आकाश से बातें करने वाले पर्वत, रात्रि में आसमानी चादर में टिमटिमाते तारे और उनके बीच में शीतल चाँदनी वाला चन्द्रमा, प्रातःकाल उदय होनेवाला प्रकाश-पुञ्ज सूर्यदेव—सभी मनुष्य को अपने निर्माता की याद दिलाते हैं, सब अपनी-अपनी भाषा में भगवान का गुण-गान करते हैं और दर्शक के चित्त को सात्त्विक आनन्द प्रदान करते हैं। आदमी सभी में भगवान की विभूति देखता है, मुग्ध होता है और जगत्पिता की वन्दना की प्रेरणा पाता है तथापि इसके लिए कुछ कवि हृदय की आवश्यकता है, जो हर किसी में नहीं होता।

**बालक की महिमा**—पर बालक की बात निराली है, उनसे मिलने वाला आनन्द हर किसी को सुलभ है। उसकी मुसकराहट में संसार मुसकराता है। उसकी अस्पष्ट तोतली बोली में प्रकृति अपनी प्रारम्भिक अवस्था का स्मरण कराती है। उसका निष्कपट व्यवहार अच्छे-अच्छों के लिए आदर्शरूप है। उसकी अहिंसा अर्थात् बदला

न लेने का भाव अहिंसा के आचार्यों के लिए भी शिक्षाप्रद है। सत्य का तो वह अवतार ही ठहरा, असत्य की गध उसके आसपास होती ही नही। वह ऊँच-नीच का भेद-भाव नही मानता, गरीब अमीर मे, राजा और रक मे कोई अतर नही जानता। छुआछूत की—अस्पृश्यता की बात वह क्यो करे, वह तो समता का क्रियाशील उपदेशक ठहरा। उसके लिए जातिभेद, रग-भेद, राष्ट्र-भेद, धर्म-भेद नही है। वह भगवान का सच्चा भक्त है, उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भेद कृत्रिम और अज्ञानमूलक हैं। उसके लिए ईश्वर एक है, खुदा, परमात्मा या गॉड जुदा-जुदा नही। ईश्वर की सब सतान एक-सी हे, चाहे कोई हिदुस्तान मे रहे या पाकिस्तान मे, चाहे एशिया मे रहे या यूरोप-अमरीका मे। सतान मे काले गोरे का भेद माननेवाला पिता अपने कर्तव्य से पतित होता है और इसी तरह मनुष्य मनुष्य मे भेद करने वाला भक्त सच्चा भक्त नही। बालक तो भगवान का सच्चा भक्त है, वह तो भगवान का रूप ही है, उसे मनुष्य-मनुष्य का भेद कैसे मान्य हो सकता है! बालक समाजवाद और साम्यवाद का ऊँचे से ऊँचा प्रतीक है, दार्शनिको और चिन्तको के लिए वह शीर्षस्थान है। सर्वोदय की भावना उससे अधिक और किसमे मिल सकती है! बालक मे हमारा भूतकाल मूर्तिमान है, वह सृष्टि के अब तक सपूर्ण इतिहास का सार है। बालक हमारे वर्तमान का चित्र है, वह हमारे भविष्य का भी सूचक है, भावी ससार कैसा होगा, यह वर्तमान बालको पर निर्भर है, उनके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि पर निर्भर है।

**मानव जगत के निर्माता का तिरस्कार**—ऐसा महिमावान् है बालक, मानव-जगत् का निर्माता। तिस पर भी उसकी कितनी उपेक्षा कितना अपमान और कितना तिरस्कार! हम अपने घर पर नजर डाले या बाहर, पाठशाला मे या अन्य शालाओ मे, समाज मे या राज्य मे—

कहीं भी उसे उसके योग्य मान नहीं, वह हर जगह कुछ अवाछनीय सा, कुछ भाररूप-सा बना हुआ है। अच्छी फसल के लिए बीज के सार-सँभाल का महत्त्व हम कुछ समझते हैं, पर भावी जगत के सुन्दर निर्माण के लिए बालक के सार-सँभाल करने की हमे चिन्ता नही।

**माता-पिता का व्यवहार**—अनेक स्थानो मे बिना यथेष्ट व्यवस्था के ही भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दी जाती है और कई-कई मन्दिरो के ऐसे खडहर होने पर भी जिनमे कोई झाड़ू-बुहारी नही करता और चमगादडों का राज्य होता है। नये-नये मन्दिरो का निर्माण का शौक पूरा किया जाता है। इसी तरह अनेक परिवारो मे बालक को निमन्त्रित तो कर दिया जाता है, पर उसके स्वागत-सत्कार की यथेष्ट तैयारी नही की जाती। कितने माता-पिता है, जो इस विषय मे दोषी नही होते? जो अपने आहार-व्यवहार, वाणी और चरित्र पर बालक के हित की दृष्टि से समुचित सयम रखते हैं? गरीबो को अपना ही निर्वाह करते नही बनता, फिर वे बालक का अतिथि-सत्कार क्या करे! धनवानो को अपने मौज-शौक से छुट्टी नही, उन्हे बालको के पालन-पोषण का अवकाश कहा से मिले! वे तो धाय या नौकर के ऊपर यह भार डाल देते है और अपने कर्तव्य से मुक्ति पाते हैं।

माँ-बाप चाहते है कि बालक हर बात मे उनके इच्छानुसार चले। जब जो चीज जितनी मात्रा मे खिलाना चाहे, बालक उसी समय वह चीज उतनी ही मात्रा मे खा ले। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे खासकर माँ के क्रोध का शिकार बनना पडता है। माँ चाहती है कि बालक सो जाय। बालक को उस समय नींद नहीं आती तो माँ की नाराजी उसे सहनी पडती है। कितनी ही माताएँ तो बालक को अफीम आदि खिलाकर ही अपनी होशियारी का परिचय देती हैं

बालक से कोई कीमती चीज टूट-फूट जाय तो कितनी माताएँ हैं, जो अपने क्रोध को काबू मे रखेंगी! बहुत कम माता-पिता यह जानते हैं कि वे बालक की मनोभूमि मे क्रोध और हिंसा का बीज बोकर भावी समाज के लिए एक बडा विष-वृक्ष लगा रहे है। यही नही, झूठ की शिक्षा भी बालक को पहले माता-पिता ही देते है। प्रत्यक्ष मे नही तो परोक्ष मे, अर्थात् वाणी से नही तो व्यवहार से। अन्यथा बालक तो निष्कपट होता है, वह सत्य का और पूर्ण सत्य का स्वभाव से अनुयायी होता है। कोई आदमी हम से मिलने आता है, जिससे हम मिलना नही चाहते। हम बालक को आदेश करते है कि जाओ उससे कह दो कि पिताजी घर पर नही है। बालक कुछ सकुचाता है। वह अपने ढग से हमे चेताता है कि मुझे झूठ बोलना क्यो सिखाते हो! पर हम बालक की बात की परवाह नही करते और उससे आदेश-पालन का आग्रह करते है। सत्यवादी बालक आने वाले सज्जन से निवेदन करता करता है—'पिता जी ने कहा है कि कह दो, पिता जी घर नही है।' हम इसमे बालक की बेवकूफी देखते हैं और उसका तिरस्कार करते हैं। पर यह तो सत्य का और भगवान का तिरस्कार है।

**अध्यापको की दृष्टि**—बालक कुछ बडा हुआ। पाठशाला मे जाने लगा। माँ-बाप ने उसे क्रोध, हिंसा और असत्य की शिक्षा दी थी, उसे आगे बढाने का काम अध्यापक करते है। बालक को बात-बात मे डराना, धमकाना, मारना-पीटना और उसे झूठ बोलने पर मजबूर करना उनका नित्य का काम है। वह अध्यापक ही क्या, जिसकी बालको पर धाक जमी हुई न हो। क्लास मे अनुशासन न रहने से अध्यापक की अयोग्यता समझी जाती है और कौन ऐसा अध्यापक है जो अपनी इस अयोग्यता का परिचय दे। मनोविज्ञान आगे बढ रहा है,-पर अध्यापक को यह सूत्र भुलाये नही भूलता कि 'छडी को विश्राम देना बालक को बिगाडना है।' जब अध्यापक किसी बात को अच्छी

तरह नहीं समझा पाता, तब उसका अचूक अस्त्र छड़ी (या अन्य तरह तरह के आविष्कृत दण्ड) है। ये अध्यापक बालक को मानवता से दूर रखने में कितने सहायक होते हैं।

समाज और राज्य की उदासीनता—समाज में हम अपने बड़ों का आदर-मान करना सिखाया जाता है। अपने मतलब के लिए कुछ ऐसे लोगों के सामने भी हम नत-मस्तक होते रहते हैं जो हमसे बड़े नहीं होते, पर बालकों से तू-तड़ाक से बात करना तो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार ही ठहरा। दूसरों के लिए श्रीमान, महाशय, महोदय, हजूर आदि अनेक सम्मानसूचक सम्बोधन शब्द हैं, पर बालक के लिए तो अच्छे शब्दों का दिवाला ही है। कितने स्थानों में बालकों को 'आप' कहा जाता है। मालूम होता है, हमारा सब शिष्टाचार कृत्रिम या स्वार्थवश है। उसकी असली कसौटी तो यही है कि हम बालक से—अपने से छोटे से—कैसा व्यवहार करते हैं।

आदमियों की सबसे बड़ी व्यापक संस्था राज्य है। इसमें सबके अधिकारों की बात होती है और जो कोई किसी के अधिकारों पर आघात पहुँचाता है, उसे दण्ड दिया जाता है, पर बालक यहाँ भी उपेक्षित ही रहता है। कुछ समय से बालकों के अधिकारों की चर्चा हो रही है, पर कौन-सा सभ्य राज्य है, जिसने इन अधिकारों की घोषणा की हो और उन की रक्षा की व्यवस्था की हो? मानव सृष्टि में बालक एक अधिकार-हीन प्राणी है, उससे मीठा बोलना, उसके साथ सद्व्यवहार करना एक दया और उदारता का काम समझा जाता है। ऐसा करके उस पर अहसान जताया जाता है, क्योंकि उसका ऐसा कुछ अधिकार तो है ही नहीं, जो कानून द्वारा मान्य हो।

विशेष वक्तव्य—ऐसी चौमुखी उपेक्षा के वातावरण में बालक का सद्विकास कैसे हो? और संसार का ही क्या भला होने वाला

है। कुम्हार अपने मन मे सोच लेता है कि मिट्टी से राम और कृष्ण बनाने हैं या रावण और दुर्योधन। बालक का निर्माण करने वाले हैं—माता, पिता, अध्यापक, समाज और राज्य। ये भी सोचें कि हमे बालकका कैसा निर्माण करना है। क्या हमे गॉधी विनोबा, सुभाष, रवीन्द्र, अरविंद, तिलक, कबीर, तुलसी, अहल्या लक्ष्मीबाई, अकबर और अशोक की आवश्यकता है? क्या हम टाल्स्टाय, रस्किन, पर्लबक, इमर्सन, गोर्की, रोमारोलॉ, लुई फिशर, वाशिंगटन, लिंकन, मेजिनी और सुकरात जैसे महानुभावोंकी आवश्यकता अनुभव करते हैं? ऐसी विभूतियॉ एकदम आसमानसे बनी-बनायी नही आ जातीं। ऐसा कोई यन्त्र नही है, जहॉ बटन दबाने मात्र से ये तैयार मिल जायॅ। बालरूप से विकसित होकर ये धीरे-धीरे बनती हैं। इनके निर्माण मे जिन-जिन व्यक्तियो का हाथ होता है, वे सब गम्भीरता से अपने कर्तव्य का निश्चय करे। तभी ससार के सुन्दर भविष्य की आशा कार्यरूप मे परिणत होगी।

———

बाइसवाँ अध्याय

# परिवार-भावना गाँव भर में

सर्वोदय का अर्थ है कि सब लोग सुखी रहें पीछे मैं सुखी बनूँगा, सब को खाना मिले। पीछे मुझे मिले, सर्वोदय की मूर्ति सर्वोदय की मिसाल घर की माता है। सर्वोदय की तालीम हर माता घर-घर में अपने बच्चों को देती है। हर माता बच्चे को दूध के साथ सर्वोदय पिलाती है। माता घर के सब लोगों को खिला कर खाती है। यह जो माता की वृत्ति है, वह सर्वोदय की वृत्ति है।

—विनोबा

परिवार-भावना—मानव समाज के संगठन की प्रारम्भिक इकाई परिवार है। यह प्राकृतिक अर्थात् कुदरती भी है। परिवार में पुरुष और स्त्री एक दूसरे के प्रति, और दोनों अपनी संतान के प्रति कितना प्रेम करते हैं। अनेक दशाओं में भाई-भाइयों का, भाई-बहिन का, और बहिन, बहिनों का प्रेम भी कुछ कम नहीं होता। सब एक दूसरे के लिए बड़ा त्याग करते और कष्ट उठाते हैं। परिवार में जो कमायी होती है, उसपर उनका अलग-अलग अधिकार नहीं होता। वह सब की होती है। सब मिलकर उसका उपयोग करते हैं। जिसकी जरूरत कम होती है, वह कम का उपयोग करता है, जिसकी जरूरत अधिक होती है, वह अधिक का उपयोग करता है। परिवार के आदमी ऐसा नहीं सोचते कि दूसरे ने ज्यादा चीज क्यों खायी। अगर कभी घर में चीज कुछ कम होती है तो कम में निभाते हैं, बच्चों, और बूढ़ों का विशेष ध्यान रखा जाता है। ऐसा नहीं होता कि

जवान आदमी पहले मनमाना खर्च करदे, और दूसरो का विचार ही न करे। इस प्रकार पारिवारिक भावना का अर्थ मिल-जुल कर प्रेम से, सद्‌भाव से, सहयोग पूर्वक रहना और एक दूसरे के सुख-दुःख मे भाग लेना, खानपान आदि प्रत्येक बात मे एक-दूसरे की जरूरत और हित का ध्यान रखना, तथा सेवा और सहायता करना है।

**सयुक्त-परिवार प्रणाली**—भारतवर्ष मे पहले एक पिता के सब लडकों के परिवार एक साथ इकट्ठे रहा करते थे। सब मिल कर धन पैदा करते और उसे बडे-बूढे के पास जमा करते थे। इस सम्मिलित कोष से घर के सब आदमियो की विविध जरूरते पूरी होती थी। इस सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर यह सबकी सम्मिलित या साझे की समझी जाती थी। इस प्रणाली का अब बहुत ह्रास हो गया है, ऐसा क्यो हुआ, इसके ब्योरे मे न जाकर हमे यहाँ यह कहना है कि इस प्रणाली मे परिवार का कोई व्यक्ति अपने आपको अनाथ या असहाय अनुभव नही करता था। यदि किसी बालक के पिता का देहान्त हो जाता तो उसके चाचा ताऊ आदि के कारण उसके भरण-पोषण या शिक्षण मे कोई कमी न होती। विधवाओ को अपने निर्वाह के लिए तथा बीमारी के समय कुछ चिन्ता नही करनी पडती थी, उसकी सब व्यवस्था परिवार मे होती रहती। यदि वह सन्तान-हीन होती तो परिवार के बालको से उसका मन बहल जाता। इसी प्रकार बुढो के लिए भी समुचित व्यवस्था रहती थी, न तो समाज या राज्य को उनके लिए कुछ अलग प्रबन्ध करना होता था और न वे इस प्रबन्ध के अभाव मे अपने को दीन दुखी अनुभव करते थे, उन पर परिवार की छत्रछाया रहती थी।

**पारिवारिक मान्यताएँ**—पारिवारिक जीवन पर विचार करने से हमारा ध्यान घरेलू मूल्यों और मान्यताओं की ओर जाता है, जो खास-कर ये है—

(१) परिवार का कोई व्यक्ति उसकी सम्पत्ति को अपनी निजी मिलकियत नहीं मानता, उस सम्पत्ति का उपयोग सब अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक करते हैं, उस पर सब का सम्मिलित अधिकार होता है।

(२) एक व्यक्ति के सुख में सब सुखी होते हैं, और एक के दुख में सब दुख मानते हैं, अर्थात् उनका सुख-दुख बटा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति यह कोशिश करता है कि वह दूसरों का सुख बढ़ाये और उनका दुख घटाने में भरसक सहायक हो। इसलिए हर एक अपनी शक्ति भर परिश्रम करता है, त्याग करता है, और कष्ट सहने को तैयार रहता है।

(३) घर में किस चीज की जरूरत है, कौनसी चीज बाहर से मगायी जाय और कौन सी चीज न मगायी जाय, इसका निर्णय घर वाले मिलकर करते हैं, कोई आदमी दूसरों की इच्छा के विरुद्ध, या उनको नाराज करके कोई चीज बाहर से नहीं लाता। बाहर वालों का तो इसमें कोई दखल होता ही नहीं।

(४) घर में वाद-विवाद या झगडे बहुत कम होते हैं और जब कोई झगडा होता भी है तो उसे घर के आदमी आपस में निपटा लेते हैं, वे उसे बाहर किसी के पास नहीं ले जाते।

**समाज में परिवार-भावना की आवश्यकता**—इन गुणों से परिवार का जीवन सुखमय होता है और उसकी उन्नति होती है। यदि ये बातें हमारे सामाजिक जीवन में भी हों तो समाज का जीवन बहुत सुखमय हो जाय। पर वर्तमान समाज में इनकी बहुत कमी है। उसमें विविध वस्तुओं पर व्यक्तियों का अलग अलग स्वामित्व है, कानून से भी ऐसा मान्य है। जो चीज जिसकी मानी जाती है, वह उसी के उपयोग में आती है। अगर वह चीज उसकी आवश्यकता से अधिक

हो तो बेकार पडी रहती है। पर दूसरा आदमी, चाहे उसे उसकी कितनी ही जरूरत क्यो न हो, उसका उपयोग नही कर सकता। इसी प्रकार जिनके पास चीज कम होती है, उन्हे कम पर गुजारा करना पडता है, चाहे इससे उन्हे कितना ही कष्ट क्यो न सहना पडे, यहाँ तक कि अपने प्राणो से भी हाथ धोना पडे। इससे समाज मे धनी और निर्धन लोगो के बीच मे चौडी खाई है। सघर्ष, अशान्ति और असतोष है। निर्धन तो कष्ट पाते ही हैं, धनवानो को भी सुख की नीद नसीब नही। उन्हे अपने सग्रह की रक्षा करने की चिन्ता सताती है, और उन्हे गरीबो से भय रहता है। इसलिए समाज मे पारिवारिक भावना बढाने की बहुत आवश्यकता है।

आदमियों को सम्पत्ति के स्वामित्व के विसर्जन का महत्व समझाना है। जिस तरह परिवार मे किसी को सम्पत्ति का मालिकी अधिकार नही होता, उसी तरह समाज मे भी सम्पत्ति की निजी मालकियत नही रहनी चाहिए। आदमी अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति का उपयोग करे, शेष सम्पत्ति को वे समाज की धरोहर के रूप मे रखे, मालिक बन कर उसका सग्रह न करे, सग्रह तो समाज मे ही होना चाहिए।

दूसरी बात यह कि जैसे परिवार मे आदमी एक दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुःख मानता है, उसी तरह समाज मे भी आदमी एक-दूसरे के सुख-दुःख मे यथेष्ट भाग ले। एक गाव या नगर मे इतने आदमी औरते रहती हैं, अगर कोई बीमार पडे तो उसकी चिन्ता सब को होनी चाहिए। इसी प्रकार एक व्यक्ति के किसी अभाव को दूसरे आदमी अपना मान कर उसकी पूर्ति का प्रयत्न करे। सब मे स्नेह, सेवा और आत्मीयता की भावना हो। सब मिल जुल कर रहे। लडाई-झगडे की बात ही न हो, और यदि कभी किसी बात पर दो आदमियो या दो घर वालों का मत-भेद या विरोध हो तो वे उसे अपने

स्थानीय भाइयों की सलाह के मुताबिक निपटा ले, दूसरे स्थान वालो तक उसे न पहुँचने दे ।

गाँव को परिवार माने—इस दिशा मे आगे बढने के लिए व्यवहारिक कार्य यह है कि गाव एक परिवार हो। गाव को हम अपना परिवार माने । जिस तरह परिवार मे आदमी सब चीजों को बाटकर खाते और उपयोग करते हैं, उसी तरह गाव मे भी हम अकेले-अकेले किसी चीज का उपयोग न करे । हम देखे किस की जरूरत कितनी है, और उसी हिसाब से सब को वह चीज मिले । बच्चों, बूढो, कमजोर और रोगियो का विशेष ध्यान रखा जाय । रोगियो के उपचार और सेवा-शुश्रूषा मे सब आवश्यकतानुसार भाग ले, उनके कष्ट-निवारण की पूरी व्यवस्था हो । बच्चो के पालन-पोषण और शिक्षण का समुचित प्रबन्ध हो वे तो भगवान की मूर्ति हैं, उनकी सेवा सहायता भगवान की पूजा मानी जाय । किसी व्यक्ति को कभी अपने आप को अनाथ या असहाय समझने का अवसर न आये । सब मे प्रेम, सहयोग और अनुशासन की भावना हो । गाव अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो, वहाँ कोई चीज बाहर से मगानी है या नही, और यदि मगानी है तो कितनी मात्रा मे—इसका निर्णय स्वय गाव वाले करे । इसके अलावा गाँव मे यदि कभी कोई झगडा हो जाय तो उसका निपटारा वहाँ ही ग्राम पचायत द्वारा किया जाय, बाहर वालो को उसका पता ही न लगे, अपने घर के झगडो का फैसला कराने हम बाहर जाय, यह हमारे लिए अपमानजनक और अशोभनीय है ।

ग्रामदान की उपयोगिता—गाव को परिवार बनाने के लिए एक मुख्य कार्य ग्राम-दान हैं । भारत मे सन् १९५१ से जो भूदान कार्य चला है, वह अब ग्रामदान का रूप ले रहा है । जो गाव पूरे के पूरे दान मे मिले हैं, उनमे कुल जमीन गाव भर की होगी, काश्त करने के लिए हर परिवार को उसके आवश्यकतानुसार जमीन दी जायगी ।

परन्तु मालकियत किसी की भी न होगी। कोई खेतीहर परिवार भूमिहीन न होगा, और खेती न करने वालो के पास व्यर्थ मे जमीन न रहेगी। किसी के पास जो जमीन होगी, वह केवल खेती करने के लिए, बेचने या रहन रखने का अधिकार उसे न होगा। इस प्रकार अब यह नारा चल रहा है—

(१) हमारे गांव मे भूमिहीन?
अब कोई न रहेगा, कोई न रहेगा।

(२) हमारे गांव मे भूमि-मालिक?
अब कोई न रहेगा, कोई न रहेगा।

इस सिलसिले मे अन्य आवश्यक कार्य ये होगे—

(१) जमीन की सिचाई की योजना करनी होगी। इसके लिए प्रत्येक किसान परिवार के लिए बैलों की व्यवस्था की जा रही है। कूपदान का क्रम भी चल रहा है, जिससे आवश्यकतानुसार पुराने कुओ को ठीक करने तथा नये कुऍ बनवाने का काम किया जाता है।

(२) गाव मे खेती द्वारा ही चीजे पैदा की जायॅगी, जिनकी गाव वालो को जरूरत होती है अर्थात् कच्चे माल की पैदावार बेचकर नफा कमाने की दृष्टि न होगी। उत्पादन मे लोगो का एक दूसरे से सहयोग होगा और वह गाव की आवश्यकता से अधिक ही किया जायगा, जिससे सकट के समय काम आये तथा दूसरे गावो की सहायता की जा सके।

(३) ग्रामोद्योगो द्वारा गाव को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जायगा। आवश्यक कपड़ा तैयार करने के लिए कपास बोने से लेकर बुनने तक का सब कार्य गाव-गाव मे होगा। इसी प्रकार अन्य आवश्यक वस्तुओ की व्यवस्था की जायगी। गाव मे लोगो की निजी दुकाने न होगी। एक सम्मिलित दुकान द्वारा सब क्रय-विक्रय होगा। यदि कभी

कोई चीज बाहर से मगानी होगी, या बाहर भेजनी होगी तो वह कार्य ग्राम-समिति की अनुमति से यह दुकान ही करेगी।

(४) गाव में सब बालको को जीवन-सम्बन्धी आवश्यक शिक्षा दी जायगी। शिक्षा किसी उद्योग द्वारा दी जायगी। नैतिक शिक्षा का यथेष्ट ध्यान रहेगा।

(५) सब विवाह-शादी आदि गाव की तरफ से होंगी, उनके लिए सम्मिलित खर्च किया जायगा। उनके वास्ते कर्ज लेने का कोई प्रश्न न होगा।

(६) आपसी व्यवहार मे जाति-भेद, छुआछूत, धार्मिक भेद भाव स्त्री-पुरुष भेद-भाव आदि न होगा। मानवता का विचार रहेगा।

**गॉव को परिवार बनाने से लाभ**—जैसा की विनोबा ने बताया है, गाव को परिवार बनाने से कई लाभ होगे। (१) इसमे गाव की दौलत बढाने मे बडी सहूलियत होगी। किस खेत मे क्या बोना चाहिए, इस बात पर सारे गाव वाले सोचेगे और सब मिलकर आयोजन करेगे। गाव की फसल का कितना हिस्सा बेचना है, इसका भी विचार गाव की समिति करेगी। गाव मे खेती के सुधार के लिए क्या-क्या करना चाहिए, यह भी सोचा जायगा। किसी खास मौके पर गाव के लिए बाहर से या सरकार से मदद हासिल करनी है तो ऐसे गाव मे उसमे सुविधा होगी। यह आर्थिक लाभ की बात हुई।

(२) उस गॉव मे परस्पर प्रेम बढेगा और जीवन मे आनन्द आयेगा। सब एक दूसरे का सुख-दु ख समझेंगे और उसमे हिस्सा लेंगे तो गाव मे आनन्द बढेगा। आनन्द अनेक के सहकार से होता है। जहॉ हर मनुष्य अपना स्वार्थ भूल जाता है वहा आनन्द का निर्माण होता है। इस तरह गाव का एक परिवार बनने से जीवन का आनन्द रुचि और स्वाद बढेगा। इसे हम सास्कृतिक लाभ कह सकते हैं।

(३) लोगो का नैतिक स्तर ऊपर उठेगा। झगडे, गाली गलौज, चोरी आदि सब कम होंगे। घर के अन्दर चोरी नहीं होती। जहा गाव

का एक घर बन जाता है, वहा चोरी मिट जाती है। उससे नीति बढती है। दुनिया मे परस्पर स्वार्थ की जो टक्कर चलती है, उससे दुनिया दुखी है और परिणाम-स्वरूप हिंसा खूब बढ़ गयी है। इसलिए अगर हम गाव की जमीन और सम्पत्ति गाव की बना देते हैं तो सारी दुनिया को नैतिक उत्थान का रास्ता मिल जाता है।

(४) मेरा-मेरा चलता है तो मनुष्य आसक्त बन जाता है, कैदी बनता है। जब मनुष्य 'मै' और 'मेरा' यह सब छोड देगा और यह कहेगा कि यह सब हमारा है, मेरा कुछ नही है तो वह जल्दी मुक्त हो जायगा। मुक्ति की युक्ति यह है कि हम अपना घर छोटा न समझे। सारा गाव हमारा घर है और हमारा जो छोटा घर हम बनाते हैं, वह भी सबका है, ऐसा समझे। हमारे पास जो कुछ है, वह सारे गाव का है, मै भी गाव का हूॅ और गाव मेरा है, ऐसी भावना जब बनती है तब मनुष्य आसानी से मुक्त होता है।

**परिवार-भावना व्यापक हो, पर अतिव्यापक नहीं**—ऊपर कहा गया है कि परिवार भावना परिवार तक सीमित न रह कर, समाज के क्षेत्र मे भी आये, और हम गाव को अपना परिवार माने। यहा एक बात ध्यान मे रखना आवश्यक है। जैसा विनोबा जी ने कहा है कुछ लोग आक्षेप उठाते है कि बडे परिवार मे मनुष्य को कर्त्तव्य की प्रेरणा नही होती, जो कि छोटे परिवार मे होती है। इसमे कुछ सच्चाई अवश्य है। हम देखते है कि छोटे पैमाने पर उपासना अच्छी होती है, पर जब बहुत बडा विस्तृत आकार हो जाता है तो वह वस्तु अव्यक्त हो जाती है और उससे प्रेरणा नही मिल पाती। इसी लिए तो हम सारे देश या सरकार की मालकियत की बात नही करते। हम गाव का ही परिवार बनाने की बात करते है। हमे अपने परिवार को व्यापक तो बनाना चाहिए, परन्तु वह अतिव्यापक न हो। वह इतना ही व्यापक हो, जिसे हम साधारणतया ग्रहण कर सके। इस मध्यम

मार्ग ग्रहण करने में सेवा का क्षेत्र अच्छा रहेगा और बुद्धि भी व्यापक होगी। सारी जमीन और संपत्ति देश की या दुनिया की है, ऐसा कहने में विचार की उदारता या विशालता तो होती है, परन्तु उसमें सेवा की प्रेरणा नहीं होती है। वह कुछ अव्यक्त सी हो जाती है। इसलिए उसकी उपासना बड़ी कठिन हो जाती है। और अगर हम एक छोटा-सा परिवार बनाकर उसी में रहते हैं, तो उसमें सेवा की प्रेरणा तो मिलती है, परन्तु विचार अनुदार और संकुचित बनता है। इसलिए सेवा की प्रेरणा भी बलवान रहे और विचार भी उदार बने, तो इन दोनों का समन्वय ग्रामीकरण में हो जाता है। आज के वैज्ञानिक जमाने में मनुष्य का जीवन जिस तरह बन रहा है, उसे ध्यान में रखते हुए, अगर हम गाँव का एक परिवार नहीं बनायेंगे, तो अपनी बहुत-सी समस्याएँ हल करना हमारे लिए कठिन हो जायेगा। इसलिए ग्राम-परिवार बनाने की यह कल्पना एक व्यावहारिक कार्यक्रम की कल्पना है।

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार अभी हम गाँव को परिवार मान, गाँव भर में व्यवहार करने में परिवार भावना रखें। आदर्श तो यही है कि इस परिवार-भावना का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता जाय, इसका निरन्तर प्रयत्न जारी रखना है। धैर्य-पूर्वक आगे की मन्जिलें तय करते रहना हैं, यहाँ तक कि इस भावना को विश्व भर में फैलाना है, सारे संसार को अपना कुटुम्ब मानना है—'वसुधैव कुटुम्बकम्।' यह आदर्श विज्ञान और मानवता का यथेष्ट विकास होने पर व्यावहारिक बनेगा।

---

*'भूदान-यज्ञ', ३० सितम्बर ५५ के आधार पर।

———

## तेइसवां अध्याय

# प्रत्येक गॉव स्वयं-पूर्ण

जव अपना हरेक अवयव काम करेगा तव सारा शरीर काम करेगा। आँख, कान, पॉव, हाथ, दॉत अच्छा काम करेंगे तो सारा शरीर अच्छा काम करेगा। अगर इनमे से एक भी कम काम करता है तो देह का काम अच्छा नहीं चलता है। उसी तरह सारे गॉव अपना काम अच्छी तरह से चलाएँगे, गॉव-गॉव में स्वराज्य होगा तो अपने देश का भला होगा।

—विनोबा

गॉव मे पूरे जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति हो—गॉव मे आदमी के जीवन का कोई खास भाग ही नही बीतता। वहॉ आदमी जन्म से लेकर मृत्यु तक पूरा जीवन विताता है। वचपन, किशोरावस्था, जवानी, बुढापा सभी वहॉ बीतता है, यह नही होता कि वहॉ केवल बालक या केवल जवान ही रहते हो। ऐसी योजना नही है कि अमुक उम्र के, अमुक योग्यता के, या अमुक अवस्था के ही आदमी रहे। वहॉ बच्चे जन्म लेते हैं, बडे होते है, पढते हैं, उनकी विवाह-शादी होती है, वे बीमार भी पडते हैं। वे अपनी आजीविका के लिए खेती उद्योग धधा करते हैं। वे अकसर मिल जुल कर रहते हैं। कभी-कभी उनमे वाद-विवाद या लडाई-झगडा भी होता है। इसलिए इन सभी अवस्थाओ के आदमियो की आवश्यकताओ की पूर्ति वहॉ ही होनी चाहिए, उन्हे अपने जीवन की रोजमर्रा की जरूरतो को पूरा करने के लिए दूर-दूर भटकने को मजबूर नही होना चाहिए।

**ग्राम राज सब विभागों की स्थापना**—इसके लिए जरूरी है कि हरेक गाँव मे ग्रामराज हो। अभी देश मे तो स्वराज्य हो गया है (इसे वास्तव मे स्वदेशी राज्य कहना चाहिए), पर गाँवो मे स्वराज्य अर्थात् ग्रामराज नहीं हुआ है। जब गाँव वालो की सब जरूरते गाँवो मे, और गाँव वालो द्वारा ही पूरी हो तो उसे ग्रामराज समझना चाहिए। विनोबा ने कहा है—'हमे हरेक गाँव मे राज्य चलाना होगा। एक देश मे विचार के जितने विभाग होते है और जितने काम होते हैं, उतने सारे गाँव मे होंगे। वहाँ पर आरोग्य-विभाग होता है तो गाँव मे भी आरोग्य विभाग होना चाहिए, वहाँ पर उद्योग-विभाग, कृषि-विभाग, तालीम-विभाग, न्याय विचारण-विभाग होते है तो गा। मे भी उतने सारे विभाग होने चाहिए। वहाँ पर परराष्ट्र से साथ सम्बन्ध आता है तो ग्राम मे भी पर-ग्राम के सम्बन्ध आएगा।'

**विद्यापीठ, और राज्य शास्त्र के ज्ञाताओ का निर्माण**—इस तरह छोटे-छोटे गाँव मे राज्य होगा तो हर गाँव मे राज्यकार-धुरधरो का समूह होगा। गाँव-गाँव मे अनुभवी लोग होंगे। दिल्ली वालो को राज्य चलाने मे कभी मुश्किल मालूम हुई तो वे सोचेंगे कि दो-चार गाँवो मे चला जाय और वहाँ के लोग किस प्रकार से राज्य चलाते हैं, यह देखा जाय, क्योंकि राज्य—शास्त्र-विद्या-पारगत लोग गाँव-गाँव मे रहते हैं, इसलिए गाँव-गाँव मे विद्यापीठ होना चाहिए। आज तो लोग कहते है कि गाँव मे राज्य-शास्त्र के ज्ञाता कोई नहीं है, जिले मे भी राज्य शास्त्र के ज्ञाता नहीं है। सारे आध्र-प्रदेश* मे राज्य-शास्त्र के ज्ञाता दो-तीन ही होंगे। जब स्वराज्य चलाना चाहते हो तो राज्यशास्त्र के ज्ञाता इतने कम होने से कैसे काम चलेगा? इसलिए गाँव-गाँव मे ऐसे ज्ञाता होने चाहिए।'

---

*श्री विनोबा आध्र-प्रदेश मे भाषण दे रहे थे इससे वहाँ का उल्लेख किया, अन्यत्र भी ऐसी ही बात है।

**परस्परावलम्बन चाहिए, परन्तु समर्थों का**—ऐसी बातों को पढ़-सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि यह योजना स्वावलम्बन की है, परस्परावलम्बन की नहीं। क्या हम एक-दूसरे से जुदा-जुदा रहें, आपस में सम्पर्क और सहयोग न रखें? इस प्रश्न के जवाब में विनोबा ने कहा है—'परस्परावलम्बन दो प्रकार का होता है। एक अंधे और लंगड़े का परस्परावलम्बन होता है। अंधा देख नहीं सकता है, परन्तु चल सकता है। और लंगड़ा देख सकता है, परन्तु चल नहीं सकता है। इसलिए दोनों परस्परावलंबन या सहयोग करते हैं। लंगड़ा अंधे के कन्धे पर बैठता है। वह देखने का काम करता है और अन्धा चलने का काम करता है। इस तरह क्या आप समाज के कुछ लोगों को अन्धा रखना चाहते हैं और कुछ लोगों को लंगड़ा रखना चाहते हैं और फिर दोनों का परस्परावलंबन चाहते हैं? बाबा भी परस्परावलंबन चाहता है। परन्तु वह चाहता है कि दोनों आँख वाले हों, दोनों पाँव वाले हों और फिर हाथ में हाथ मिलाकर दोनों साथ-साथ चलें। बाबा समर्थों का परस्परावलंबन चाहता है और ये लोग व्यंगयुक्त या अक्षम लोगों का परस्परावलंबन चाहते हैं।'

**प्रत्येक गाँव स्वयं पूर्ण होगा**—आगे विनोबा कहते हैं—'बाबा भी परस्परावलंबन चाहता है, क्योंकि हम जानते हैं कि सारी की सारी चीजें एक गाँव में नहीं बन सकती हैं। एक गाँव को दूसरे गाँव के साथ और गाँवों को शहरों के साथ सहयोग करना होता है। लेकिन हम यह नहीं चाहते कि गाँवों में शहरों से चावल कूटकर, आटा पिसवाकर और चीनी बनवाकर लायी जाय। हम चाहते हैं कि ये चीजें गाँव में ही बनें। लेकिन गाँवों में चश्मा, थर्मामीटर, लाउड-स्पीकर जैसी चीजों की जरूरत पड़ी तो वे चीजें शहर से लायी जायें। आज यह होता है कि शहर वाले गांव वालों के उद्योग खुद करते हैं। गांव में कच्चा माल होता है और उसका पक्का माल गाँव में ही बन

सकता है। लेकिन आज शहरों में यंत्रों के द्वारा पक्का माल बनाया जाता है। उधर परदेश का जो माल शहरों में आता है, उसे रोकते नहीं। हम चाहते हैं कि गांव के उद्योग गांव में चलें और परदेश से जो माल आता है, उसे रोकने के लिए वह माल शहरों में बनाया जाय। अगर गांव के उद्योग खतम होंगे तो न सिर्फ गांवों पर संकट आयेगा, बल्कि शहरों पर भी संकट आयेगा। फिर गांव के बेकार लोगों का शहरों पर हमला होगा और उधर से परदेशी माल का हमला तो होता ही रहेगा। इस तरह दोनों हमलों के बीच में शहर वाले पिस जायेंगे। इसलिए हमारी योजना में गाँव और शहरों के बीच इस तरह का सहयोग होगा कि गाँव वाले अपने उद्योग गांव में चलायेंगे और शहर वाले परदेश से आने वाली चीजें शहर में बनायेंगे। इस तरह प्रत्येक गांव पूर्ण होगा और पूर्णों का सहयोग होगा।

विशेष-वक्तव्य—गावों की परिपूर्णता के सम्बन्ध में कुछ बातें 'अर्थ-रचना और राज्य-रचना विकेन्द्रित' तथा 'शिक्षा, जीवनोपयोगी' शीर्षक अध्यायों में कही गयी हैं। पाठक उन्हें ध्यान में रखने की कृपा करें।

---

*इस अध्याय में श्री विनोबा के जो कथन उद्धृत किये गये हैं, वे उनके उस भाषण से हैं, जो ६-८-५५ को कोटीपाम (श्री काकुलम, आंध्र) में दिया गया था और 'भूदान-यज्ञ' के २६ अगस्त ५५ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

## चौबीसवाँ अध्याय

# गाँव सुखी, संसार सुखी

हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो परिवार-व्यवस्था का व्यापक फैला हुआ रूप होगा। इसका आरम्भ हम गाँव मे करना चाहते हैं और इसका अन्त हम दुनिया में करना चाहते है।

—विनोबा

ससार-सुख का मूल · व्यक्ति विकास—ससार मे विविध देश हैं और ससार के सुख के लिए सब देशो का सुखी होना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक देश के सुख के लिए उसके विविध गावो (और शहरो) का, और प्रत्येक गाव के सुख के लिए उसके सब व्यक्तियो का सुखी होना जरूरी है। इस तरह ससार का सुख या उत्थान अन्तत. व्यक्तियो के उत्थान और सुख पर निर्भर है। ससार का केन्द्र व्यक्ति है। ससार-सुख की समस्या वास्तव मे व्यक्ति-विकास की समस्या है। जब तक स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण न होगा, ससार के विविध विकारो से मुक्त होने की आशा नहीं की जानी चाहिए। व्यक्तित्व विश्व का प्रतीक है। बुराई-भलाई, गुण-दुर्गुण जो बात अल्प मात्रा मे व्यक्ति मे होगी, वही बडे परिमाण मे ससार मे पायी जायगी। सुखी ससार बनाने का काम वास्तव मे व्यक्ति-निर्माण का काम है। विकसित व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण को प्रभावित करता हुआ समाज के उत्थान मे सहायक होता है।

मनुष्य केवल उसका भौतिक शरीर नहीं—इस प्रसग मे यह याद रखना जरूरी है कि मनुष्य केवल उसका भौतिक शरीर नही।

यह ठीक है कि आदमी हाड-मांस का पुतला है, हाड-मांस के बिना उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। तथापि वह केवल हाड मांस नहीं। मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त मन और आत्मा का समावेश है। इस-लिए व्यक्ति का जब तक मानसिक और आत्मिक विकास न हो, उसके विकास या निर्माण का कार्य अधूरा या एकांगी है। वास्तव में शरीर एक साधन मात्र है, उसका रक्षण-पोषण आवश्यक है। पर वही जीवन का लक्ष्य नहीं।

खेद है कि प्राय आदमी इस तत्व की बात को भूला रहता है। हम शरीर को ही साध्य मान कर उसकी ( भौतिक ) आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। भोजन-वस्त्रादि को शरीर के लिए न मान कर शरीर को ही भोजन-वस्त्रादि के लिए समझ लेते हैं, और विविध भोगोपभोगों द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे रहते हैं। जितना हम भोगों को भोगते हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियों की अपने-अपने विषय की भूख बढ़ती जाती है। इस प्रकार कभी भी हमारी तृप्ति होने में नहीं आती हरदम मन में असतोष, अशान्ति और उद्वेग बना रहता है। यहाँ तक कि अन्त में हमें निराशा-पूर्वक स्वीकार करना होता है कि 'भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ता।'

आध्यात्मिक उन्नति की आवश्यकता—व्यक्ति के वास्तविक विकास के लिए आध्यात्मिक उन्नति की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए संसार के विचारकों ने समय समय पर जनता को उपदेश दिया है तथा उसका पथ प्रदर्शन किया है। भारतीय आचार्यों ने जीवन में यम नियम की आवश्यकता और उपयोगिता बतायी है। यम पाँच हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय ( चोरी न करना ), ब्रह्मचर्य और अपरि-ग्रह। नियम भी पाँच हैं—शौच (शारीरिक और मानसिक स्वच्छता), संतोष, तप ( सत्कार्य के लिए साधना या कष्ट सहन ) स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ( विश्व को ईश्वरमय मानना )। इन यम-

नियमो का एक दूसरे से बहुत सम्बन्ध है। एक के पालन करने से दूसरे का पालन करना सरल हो जाता है, यहाँ तक कि एक के पालन का अर्थ एक सीमा तक दूसरे का भी पालन हो जाता है। आध्यात्मिक विकास के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन मे इसके पालन की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए।

**व्यक्ति अच्छे गॉवो का निर्माण करे, ससार सुखी होगा**—अच्छे गुणों वाले व्यक्ति ही अच्छे गॉवो का निर्माण कर सकते हैं। जिन मानवी गुणों का परिचय हम अपने परिवार मे देते हैं, उन गुणो के अनुसार ही हम गॉव मे व्यवहार करे, अर्थात् गॉव को परिवार मान कर रहे तो गॉव का जीवन कितना सुखमय हो। गॉवो के स्वावलम्बी होने की बात पहले बतायी जा चुकी है। स्वावलम्बी गॉव अपने यहॉ किसी ऐसे पदार्थ का आयात न होने देगा जो वहॉ के आदमियो के काम या रोजगार को क्षति पहुॅचाए या जिससे जनता का शोषण हो। वह किसी पदार्थ का निर्यात दूसरों की सेवा या सहायता की दृष्टि से ही करेगा, उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए नही। इस प्रकार गॉव न तो किसी को हानि पहुॅचायेगा और न दूसरों को ही ऐसा अवसर देगा कि वे उसे कुछ क्षति पहुॅचावे। गॉव ऐसा होगा, तभी ससार सुखी होगा ससार गॉव-रूपी इकाइयो का समूह है, गॉव नीचे की बुनियाद है, वह अच्छी मजबूत होगी तो उसके ऊपर का भवन—विश्व या ससार—दृढ और टिकाऊ होगा। ससार को सुखी करने का कार्य गॉव से आरम्भ होगा, तभी उसमे स्थिरता आएगी।

**सभी गॉवो के उत्थान की आवश्यकता**—यहॉ एक बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है। हमारे कितने ही समझदार आदमी भी देश के उत्थान की बात सोचते समय सब गॉवो को अपने सामने नही रखते। उनका विचार यही रहता है कि जितने गॉवो का सुधार

हो जाय, अच्छा है, कुछ गाँव अवनत या पिछड़े हुए रह जायँ तो रह जायँ। परन्तु विचार करना चाहिए कि हम अपने शरीर को तभी स्वस्थ कह सकते हैं जब उसका प्रत्येक अंग स्वस्थ और ठीक काम करने वाला हो। इसी प्रकार हमारा राष्ट्र-रूपी शरीर जिन गाँवों का बना हुआ है, उनमें से कुछ की उपेक्षा करने से हमारा राष्ट्र कैसे अच्छा हो सकता है! और अपूर्ण रूप से विकसित राष्ट्रों का जो संसार बनता है, वह यथेष्ट सुख शान्ति का अनुभव कैसे कर सकता है! निदान, संसार को सुखी बनाने के लिए हम अपने कुछ गाँवों की उपेक्षा नहीं कर सकते, हमें सभी गाँवों के अभ्युत्थान का विचार करना है, और तदनुसार कार्य-क्रम बनाना है। तभी हमें अपने उद्देश्य सिद्धि में सफलता होगी।

**विज्ञान को चुनौती**—भौतिक विज्ञान की उन्नति और प्रसार के कारण भौगोलिक रूप से यह दुनिया एक छोटी सी बस्ती सरीखी बन गयी है। विज्ञान ने यह सम्भव कर दिया है कि आदमी दूर दूर के निवासियों से सम्बन्ध स्थापित कर उनके सुख को बढ़ाये तथा उनके कष्टों और अभावों को दूर करे। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि हमारी इच्छा या भावना ऐसा करने की हो। यदि हमारी प्रेम और सेवा भावना का विकास न हो, और हम दूसरे आदमियों को पराया या गैर, बाहरी या विदेशी मानकर उनके प्रति दुर्भाव रखे तो विज्ञान हमें एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाने में, और इस प्रकार संसार को अधिक दुखी, संघर्षमय और अशान्त बनाने में भी मदद कर सकता है। इसलिए जरूरी है कि हम प्रेम और सेवा की भावना को विश्व भर में फैला कर और इसे अमल में लाकर सब को सुखी बनाएँ।

**विशेष वक्तव्य**—संसार भर में ऐसी भावना फैलाने की बात सुन कर इस कार्य की महत्ता से घबराने की जरूरत नहीं। हमें धैर्य पूर्वक इस दिशा में बढ़ते रहने का प्रयत्न करना है। इसके लिए गाँव

भर मे परिवार भावना से वर्ताव करना है। हम गॉव के सब पुरुषो और स्त्रियो को उनकी उम्र के अनुसार अपना भाई-बहिन, चाचा-चाची या ताऊ-ताई आदि माने। सब बालको से हम अपने बालको जैसा व्यवहार करे। हमारे सामने जाति या सम्प्रदाय आदि की सकुचित दृष्टि न हो, आर्थिक या सामाजिक भेद-भाव की बात न हो। इस तरह की भावना आगे बढती रहे। एक गॉव का प्रकाश दूसरे गॉव मे पहुॅचेगा और वहॉ के प्रकाश से मिल कर वह और अधिक प्रभावकारी होगा। प्रेम और सेवा की लहर का विस्तार बढता जायगा। देश या राज्य की कृत्रिम सीमाऍ उसमें बाधक न होगी, बाधक नही हो सकेगी। मानव हृदय की पुकार मानव हृदयो तक पहुॅचेगी। मनुष्य जाति एक है, ऐसा अनुभव मनुष्य करेगा, वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श रखते हुए सर्वोदय समाज की रचना मे अपना कर्तव्य पालन करने वाला होगा। शुभम्।

---

# सहायक साहित्य

| | |
|---|---|
| धर्म चक्र प्रवर्त्तन | विनोबा |
| सर्वोदय यात्रा . .. | ,, |
| साहित्यिकों से . | ,, |
| हमारी भूमि-समस्या का हल | जयप्रकाश नारायण |
| मानवीय क्रान्ति . | दादा धर्माधिकारी |
| क्रान्ति का अगला कदम | ,, |
| भूदान-आरोहन . | नारायण देसाई |
| सम्पत्ति-दान-यज्ञ . | श्रीकृष्णदास जाजू |
| भूदान दीपिका | विमला बहन ठकार |
| विनोबा का सन्देश | सुरेश रामभाई |
| 'विनोबा एंड हिज मिशन' (अंगरेजी) | ,, ,, |
| सर्वोदय का सिद्धान्त . | नवजीवन प्रकाशन-मंदिर, अहमदाबाद |
| सामाजिक क्रान्ति के दस कार्यक्रम | जवाहरलाल जैन |
| आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम | ,, |
| राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से ... | भगवानदास केला |
| मानव संस्कृति | |
| भावी नागरिकों से . | , |

भूदान यज्ञ, सर्वोदय, हरिजन सेवक, साम्ययोग, ग्रामराज, राजस्थान, आर्थिक समीक्षा, पाँचजन्य, अमृतपत्रिका, नयाहिन्द आदि पत्र-पत्रिकाएँ।

# सर्वोदय ग्रन्थमाला

( १ ) सर्वोदय अर्थशास्त्र—संसार मे सुख-शान्ति चाहने
वाले राजनीतिज्ञो, अध्यापको और पाठको के
लिए बहुत आवश्यक।

( २ ) सर्वोदय अर्थ व्यवस्था—इसकी श्रेष्ठता का सुन्दर
विवेचन। ...

( ३ ) हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?—अर्थशास्त्र मे
सर्वोदय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता का विचार

( ४ ) सर्वोदय राज क्यो और कैसे ?—अभी वास्तविक
स्वराज नहीं हुआ। उसका विचार कीजिए।

( ५ ) मानव सस्कृति—सस्कृति क्या है, इसके विविध
पहलू, इसका विकास, विविध देशो का इसमे योग।

( ६ ) समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय—मानव
प्रगति मे पूँजीवाद आदि का भाग, और सर्वोदय
की विशेषता। . .

( ७ ) मेरा जीवन, सर्वोदय की ओर—श्री भगवानदास
केला के जीवन की झाकी।

( ८ ) सर्वोदय, दैनिक जीवन मे—खान पान,
पहनावे, खेती, व्यापार और व्यवसाय मे सर्वोदय।

( ९ ) राज व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से .

(१०) आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम।

(११) प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यो ?—औषधियो
और डाक्टरो से बचिये। ...

(१२) मेरी सर्वोदय यात्रा—राजस्थान, मध्यभारत,
पजाब, बिहार आदि मे श्री केला जी की यात्रा।

(१३) समाज-रचना, सर्वोदय दृष्टि से

(१४) भूदान, श्रमदान, जीवनदान ...